



वीतराग-विज्ञान

भाग - 2

छहढाला की दूसरी ढाल पर आध्यात्मिक सत्पुरुष
पूज्य श्रीकानजीस्वामी के प्रवचन

वीतराग-विज्ञान

भाग-२

(कविवर पण्डित दौलतरामजी विरचित छहढाला की तीसरी ढाल पर
आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

अनुवादक :

ब्र. हरिभाई

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)

एवं

पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली

प्रथम संस्करण :	३ हजार
(२७ मई, २००१)	
द्वितीय संस्करण :	१ हजार
(२५ मार्च, २००८)	
योग :	<u>४ हजार</u>

मूल्य : १२ रुपये

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of [Chha Dhala Pravachan Part 2 \(Hindi\)](#) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	9 November 2009	First electronic version

प्रकाशकीय

पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी कृत छहढाला की दूसरी ढाल पर आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

छहढाला दिगम्बर जैन समाज का सर्वाधिक लोकप्रिय, सरल एवं बोधगम्य ग्रन्थ है। अध्यात्मरस से भरपूर यह ग्रन्थ 'गगर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। आज भी दिगम्बर जैन समाज में सैकड़ों नर-नारियों को यह ग्रन्थ कंठस्थ है तथा दिगम्बर जैन समाज के सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में यह सम्मिलित है।

समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों की भांति छहढाला भी आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री स्वामीजी को अत्यन्त प्रिय था तथा इस पर उन्होंने प्रवचन करके इसका मर्म जन-जन तक पहुँचाया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय श्रीस्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके पुण्य प्रताप से निर्मित इकसठ दिगम्बर जिन मंदिर एवं लाखों की संख्या में प्रकाशित सत्साहित्य हमें हजारों वर्षों तक सत्य का दिग्दर्शन कराता रहेगा।

षट्खण्डागम भाग-१, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, बृहद् द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्गप्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, समयसारकलश टीका, नाटक समयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थों पर प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तुस्वातन्त्र्य, कर्ता-कर्मसंबंध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जैन दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की आगम एवं युक्तिसंगत व्याख्या करके जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली स्याद्वाद,

निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन में चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल पर्यन्त स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

स्वाध्याय के क्षेत्र में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नय-विवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयंगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्हीं की देन है।

छहढाला ग्रन्थ पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री स्वामीजी ने गुजराती भाषा में प्रवचन किए थे, जिनका संकलन स्व. ब्र. हरिलालजी ने वीतराग-विज्ञान के नाम से प्रकाशित किया था। यह बाद में पृथक्-पृथक् भाग के रूप में सोनगढ़ से प्रकाशित किए गए थे।

अब प्रत्येक ढाल के प्रवचनों को एक ही टाइप व एक ही आकार में प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है; यह विशेषता भी पाठकों को हम बताना चाहते हैं।

इस दूसरे भाग का गुजराती से हिन्दी अनुवाद ब्र. हरिभाई ने किया है तथा सम्पादन का महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने किया है। संस्था दोनों महानुभावों का हृदय से आभार मानती है।

प्रकाशन व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने सम्हाली है; अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। जिन महानुभावों ने इस पुस्तक की कीमत कम करने में आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, संस्था उनकी भी हार्दिक आभारी है।

आप सभी धर्म का मर्म समझकर अपना आत्मकल्याण करें, इसी भावना के साथ –

ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

पण्डित दौलतरामजी कृत

छहढाला

दूसरी ढाल

(पद्धरि छन्द)

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चरण-वश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन, तिन संक्षेप कहूँ बखान ॥१॥
जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधै तिन माहिं विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप ॥२॥
पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥३॥
मैं सुखी-दुखी मैं रंक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥४॥
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥५॥
शुभ-अशुभबंध केफल मँझार, रति-अरति करै निजपद बिसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान ॥६॥

रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय ।
 याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ॥७॥
 इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानों मिथ्याचरित्त ।
 यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह ॥८॥
 जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव ।
 अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैं सनेह ॥९॥
 धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म-जल-उपल नाव ।
 जे राग-द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन ॥१०॥
 ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भव-भ्रमण छेव ।
 रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत ॥११॥
 जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरथै जीव लहै अशर्म ।
 याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है कुज्ञान ॥१२॥
 एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त ।
 कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेन त्रास ॥१३॥
 जो ख्याति-लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविध-विध देह-दाह ।
 आतम-अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥१४॥
 ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पन्थ लाग ।
 जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब 'दौलत' निज आतम सुपाग ॥१५॥



(द्वितीय ढाल)

दुःख के कारणरूप मिथ्यात्वादि के त्याग का उपदेश

इस छहढाला में सबसे पहले वीतरागविज्ञान को नमस्कार करके मंगल किया, और उसीको सर्वोत्कृष्ट बतलाया। ऐसे वीतराग विज्ञान के अभाव में जीव ने चार गति में कैसे कैसे दुःख भोगे उसका वर्णन पहली ढाल में किया। ये चार गति के दुःख के कारणरूप जो मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याआचरण, उसका स्वरूप पहचान करके उसको छोडने का उपदेश इस दूसरी ढाल में देते हैं : -

(गाथा-१)

ऐसेमिथ्यादृग-ज्ञानचरण, वश भ्रमत भरत दुःख जन्म मरण।

तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥१॥

जीव मिथ्यात्व के सेवन से ही दुःखी है। शरीर का छेदन-भेदन या शीत-उष्णता आदि संयोग से चार गति के दुःखों का कथन किया, किन्तु उसमें दुःख का सच्चा कारण बाह्यसंयोग नहीं है, मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याआचरण ही दुःख का सच्चा कारण है। यह समझकर मिथ्यात्वादि का त्याग करना चाहिए। मिथ्यात्वभाव जीव को महान दुःख देनेवाला शत्रु है, इस मिथ्यात्वादि शत्रु से आत्मा के स्वभाव का रक्षण करने के लिये वीतराग विज्ञान मजबूत ढाल है।

निगोद से लेकर नववें ग्रैवेयक तक के चारों गति के अवतार में जीव ने जो दुःख भोगे वह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के सेवन से ही भोगे हैं और ऐसा नहीं है कि मात्र नरक के ही अवतार में दुःख भोगे, स्वर्ग का अनन्त

अवतार किया उसमें भी दुःख ही भोगे हैं। जहाँ सम्यग्दर्शनादि है वहाँ ही सुख है; और जहाँ मिथ्यात्वादि है वहाँ दुःख ही है; - चाहे नरक हो, चाहे स्वर्ग हो। तिर्यच में या नरक में, स्वर्ग में या मनुष्य में, सर्वत्र दुःख का कारण तो जीव के मिथ्यात्वादि भाव ही हैं। उन मिथ्यात्वादि भावों के वश होकर जीव चार गति में रूलता है और महान दुःखों को भोगता है। उसके दुःख सर्वज्ञ ने जैसे देखे हैं उसी के अनुसार यहाँ कुछ कथन किया। अनन्त दुःखों का वर्णन कहाँ तक किया जाय?

जीव निगोद में भी अपने मिथ्यात्ववश ही रहा है, अन्य किसी कारण से नहीं। श्री गोम्मटसारजी की गाथा १९७ में कहा है कि “भावकलंक सुपउरा निगोदवासं ण मुचंति” अर्थात् भावकलंक की अत्यन्त प्रचुरता होने से वे जीव निगोदवास को छोड़ते नहीं। जीव को अपना मिथ्यात्वभाव ही दुःखरूप है; कर्म तो जड़ है, वह तो मात्र निमित्त हैं, जीव से वह भिन्न है। भाई, तेरे उल्टे भाव के अनुसार ही कर्म बँधे हैं अतएव परिभ्रमण का मूल कारण तेरा उल्टा भाव ही है, तेरे उल्टे भाव को छोड़ तो तेरा भ्रमण मिटे। सम्यग्दर्शन के बिना जीव का परिभ्रमण कभी नहीं मिटता। हे जीव मिथ्यात्व के सेवन से जन्म-मरण का बहुत दुःख तू भोग चुका, अब तो उस मिथ्यात्वादि को छोड़..... छोड़।

जीव ने दयादि के शुभभाव से स्वर्ग का भव भी अनन्तबार किया, एवं हिंसादि के तीव्र पाप करके नरक में भी वह अनन्तबार जा चुका; किन्तु शुभ-अशुभ दोनों से पार निज-स्वरूप है - उसकी पहचान नहीं की। देह में और राग में एकत्वबुद्धि का होना यह मिथ्यात्व है - ऐसा जानकर उसे छोड़ना चाहिए। भवदुःख का कारण क्या? कि मिथ्यात्वादि भाव; यह मिथ्यात्वादि का स्वरूप संक्षेप में इस अध्याय में कहेंगे, किस हेतु से? कि उसको पहिचानकर उसका त्याग करने के लिये।

अज्ञानी संयोगबुद्धि से दुःखी हो रहा है; संयोग यदि अनुकूल हो तो

अच्छा और प्रतिकूल हो तो बुरा - ऐसी मिथ्याबुद्धि दुःख का मूल है। नरकादि के दुःखों के कथन में संयोग के निमित्त से बात की है, परन्तु वास्तव में प्रतिकूल संयोग दुःख नहीं है, जीव का मोहरूप आकुलभाव ही दुःख है।

जीव ने मिथ्यादृष्टिपने में निगोद से लेकर नवमी ग्रैवेयक तक के अवतार अनन्तबार किये, उनमें सामान्यतया सबसे कम भव मनुष्य के किये, यद्यपि वे भी अनन्त किये, किन्तु अन्य गति की अपेक्षा से वे कम है; उनसे असंख्यातगुणे नरक के भव किये; उनसे असंख्यातगुणे देव के भव किये, और उनसे अनन्तगुणे भव तिर्यच गति में किये; सिद्धपद इस जीव ने पूर्व में कभी भी प्राप्त नहीं किया। संसार का अनन्तकाल तो ऐकेन्द्रियपन के महान दुःख में बिताया। उस वक्त जीव को किसी प्रकार की विवेक बुद्धि ही नहीं थी; उसकी चेतना इतनी हीन हो गई थी कि, सिर्फ इतना ही बाकी रहा कि वह जड़ न हो गया। अब तो जीव को चेतने का अवसर आया है; अतः घोर दुःख के कारणरूप मिथ्यात्वादि को जानकर उनको सर्वथा छोड़ना चाहिए। मिथ्यात्व को मिथ्यात्वरूप से जो पहचाने भी नहीं वह उसका त्याग कैसे करेगा? इसलिये कहा कि “इनको तजिये सुजान” अर्थात् उन मिथ्यात्वादि दुश्मनों को अच्छी तरह जानकर उनका त्याग करो। मिथ्यात्व का अंश भी बुरा है, अतः उसका निर्मूल नाश करना चाहिए। उसका नाश करने के लिए यहाँ उसका स्वरूप दिखलाते हैं; मिथ्यात्व में कैसी कैसी विपरीत मान्यताएँ होती हैं - यह जानकर, अपने में ऐसी कोई मान्यता हो तो छोड़ देना चाहिए। बड़े-बड़े आचार्यों ने शास्त्रों में जो विस्तृत वर्णन किया है, उसी के अनुसार यहाँ संक्षेप में कहा जायेगा। यह समझकर मुमुक्षु को सम्यक्त्व का सेवन करना और मिथ्या भावों का सेवन छोड़ना चाहिए।

भाई तेरे दुःख की कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णतः केवली

भगवान ही जानते हैं; कथन में तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवन से तुम कैसे दुःखी हुए? - यह बात सुनो! सुनकर अब उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरे ने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्व भाव से ही तुम रुले और दुःखी हुए। मिथ्यात्व और राग द्वेष दुःख का कारण हैं। राग अशुभ हो या शुभ, दोनों में दुःख है। शुभ से भले स्वर्ग मिले, किन्तु वह भी दुःख है, शुभराग से स्वर्ग मिल जाय किन्तु कहीं भी शुभराग से आत्मा नहीं मिल सकता, अथवा आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कोई गुण शुभराग से नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुण की प्राप्ति कैसे हो? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग वह स्वयं ही दुःख है, उसका फल भी दुःख है, तब फिर वह मोक्ष-सुख का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता; किन्तु अज्ञानी उसको सुख का कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है, वह सुख है; जो राग-द्वेष-अज्ञान है वह दुःख है; ऐसा जानकर हे जीव! दुःख के कारणों से तू दूर हट जा, और सुख के लिये वीतराग-विज्ञान को प्रकट कर।

मैं ज्ञान हूँ यह भूलकर, राग मैं हूँ, शरीर मैं हूँ - ऐसी मिथ्याबुद्धि का होना वह संसार का मूल है। ऐसे मिथ्यात्वभाव सहित जो जानपना है, वह मिथ्याज्ञान है, और मिथ्यात्व सहित का आचरण यह मिथ्या चरित्र है।

शरीर अजीव है; मिथ्यात्व-पुण्य-पाप आस्रव है; इन अजीव और आस्रव को अपना मानना या हितकर मानना, वह मिथ्याश्रद्धा है। मैं ज्ञान हूँ - ऐसे अपने जीवतत्त्व को भूल गया, और मैं देह हूँ - ऐसे अजीव को जीव मान लिया, यह विपरीत मान्यता मिथ्यादर्शन है।

उसीप्रकार रागादि आस्रव को जीवस्वभाव मानना या उसको संवर-निर्जरा का कारण मानना- वह भी मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादृष्टि जीव सातों तत्त्वों के सम्बन्ध में कैसी भूल करता है, यह आगे दिखायेंगे।

जीव, अजीव आदि सातों तत्त्व भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है, शरीरादि अजीव है। अजीव का काम जीव का नहीं है। अजीव; ऐसे शरीरादि में जो जीव का काम माने, उसने जीव-अजीव को भिन्न नहीं जाना किन्तु एक माना। भिन्न-भिन्न तत्त्वों को एक मानना सो मिथ्यात्व है।

हिंसादि पापभाव एवं दयादि शुभभाव - ये दोनों शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु आस्रव हैं, और बन्ध का अर्थात् दुःख का कारण है; ऐसा होने पर भी उनको ज्ञान के साथ एकमेक मानना अथवा उनमें से किसी को सुख का कारण समझना-सो मिथ्यात्व है। जैसे ज्ञान और अजीव भिन्न हैं; वैसे ही ज्ञान और आस्रव भी भिन्न हैं। ज्ञानमय जीव और रागादिरूप आस्रव - ये दोनों अलग-अलग हैं, उनको अलगरूप पहचानना चाहिए। इसप्रकार तत्त्वों को पहचानकर विपरीत मान्यता छोड़ देना चाहिए, क्योंकि विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व महादुःख का कारण है, और उसको सबसे बड़ा पाप गिनने में आया है।

वचन की देह की क्रिया जीव की नहीं है परन्तु अजीव की है। आठों कर्म अजीव हैं; जड़ कर्म जीव को दुःख नहीं देता, किन्तु जीव अपने विपरीत भाव से (मोह से) दुःखी होता है। जड़ के पास सुख-दुःख है ही कहाँ, - जो वह जीव दे? जीव के सुख-दुःख का कारण तो जीव में ही है। वर्ण-गन्धवाला रूपी जड़-अचेतन पुद्गल, - क्या उसमें सुख या दुःख है? - नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर चैतन्य भगवान, वह अपने आपको भूलकर विपरीत भाव से दुःखी होता है, और अपने स्वभाव को पहचानकर उसमें एकाग्रता से सुखी होता है। अतएव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है सो संवर है और सुख का कारण है। अपने दुःख या सुख परिणाम का कर्ता जीव स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

भाई! तुम तो जीव हो, घर-पैसा-शरीर ये सब अजीव हैं; अजीव

को, अपना मानना वह मिथ्यात्व है - अज्ञान है और चार गति के महान दुःखों का कारण है, यह जानकर उसको छोड़ो। जड़ का संयोग तुमको सुख या दुःख का कारण नहीं है, वह तो पर वस्तु है, अलग है। दुःख अपने में और उसका कारण पर में - यह कैसे बने? दुःख अपने में है तो उसका कारण भी अपने में है और उसे मिटाने का उपाय भी अपने में ही है, बाहर में नहीं है। परन्तु अज्ञानी अपनी भूल न देखकर बाह्य में दूसरे को दुःख का कारण समझता है, और उसके ऊपर वह द्वेष करता है; किन्तु दुःख दूर करने का वास्तविक उपाय वह नहीं करता। यदि अपने मिथ्यात्वादि विपरीत भाव को दुःख का कारण समझे तो सम्यग्दर्शनादि भावों के द्वारा उसको दूर करने का उद्यम करें।

शरीर ही मैं हूँ, अतएव शरीर की प्रतिकूलता में मुझे दुःख और शरीर की अनुकूलता में मुझे सुख ऐसी अज्ञानी की बुद्धि है; अजीव को जीव माननेरूप मिथ्यात्व है। ऐसा तो नहीं है कि शरीर का निरोग रहना वह सुख, और शरीर में रोग का होना सो दुःख; शरीर जीव को न तो कुछ मदद करता है, और न कुछ रुकावट करता है। सातवीं नरक की प्रतिकूलता के बीच में भी जीव सम्यग्दर्शन पा लेता है, उसमें उसको प्रतिकूलता की आड़ कहाँ आई? वैसे मिथ्यादृष्टि को भी किसी संयोग का विघ्न नहीं हैं, किन्तु देहबुद्धि का विपरीत भाव ही विघ्नकारी है। बाह्य साधन की जो बुद्धि है वही उसको अन्तर्मुख नहीं होने देती। यदि अन्तर में मैं ज्ञान स्वरूप हूँ - ऐसा लक्ष करे तो, बाह्य में प्रतिकूलता होते हुए भी सम्यग्दर्शनादि हो सकता है, और बाह्य में सब तरह की अनुकूलता होने पर भी, यदि जीव स्वयं अंतरलक्ष न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। अपने में ही जब ताकत न हो तो दूसरा क्या करे? भाई, देहादि संयोग से भिन्न जीवतत्त्व तुम हो किन्तु मिथ्यात्ववश अपना निजरूप भूलकर तुम रुले और जन्म-मरण के बहुत दुःख तुमने सहन किए। अब यह दुःख मेटने के

लिये संयोग की ओर देखना छोड़कर तुम अपने स्वभाव के सन्मुख देखो, तुम चेतनरूप हो।

देखो, सुगम भाषा में कितनी सरस बात समझायी है। कैसी अच्छी हित की बात है? मोक्षार्थी जीव को यह बात समझकर, दुःख के कारणरूप मिथ्यात्वादि को छोड़ना चाहिए, और सुख के कारणरूप सम्यक्त्वादि का ग्रहण करना चाहिए। सुःख-दुःख कोई दूसरे के कारण से नहीं है, परन्तु मेरे भाव से ही मुझे सुख-दुःख है - ऐसा जानकर सम्यक्त्वादि भाव की उपासना करना और मिथ्यात्वादि भाव का त्याग करना, ऐसा उपदेश है।

अब जीवादि तत्त्वों का सच्चा स्वरूप कैसा है, और उनकी पहचान करने में जीव कैसी भूल करता है? यह दिखाते हैं; - क्यों दिखाते हैं? कि “इनको तजिये सुजान” अच्छी तरह से भूल को जानकरके उसको छोड़ने के लिये उसका स्वरूप दिखाते हैं, - जिससे दुःख मिटे और सुख होवे।

प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान में अज्ञानी की भूल

जीव-अजीव की भिन्नता न जानकर, उनको एक मानकर, जीव संसार में दुःखी हो रहा है; भूल का स्वरूप समझाकर, उससे छुड़ाने के लिये यह उपदेश है -

(गाथा-२)

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरथै तिनमांहि विपर्ययत्व।

चेतन को है उपयोगरूप, विनमूरति चिन्मूरति अनूप॥२॥

मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी सच्ची पहचान जीव ने कभी नहीं की। अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर जीव ने

अपने को पुण्य-पापरूप और शरीररूप ही मान रक्खा है – यह अगृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत अर्थात् किसी के उपदेश से जो नयी ग्रहण नहीं की गई, किन्तु अनादि से चली आई है - ऐसी भूल; उसको नैसर्गिक-मिथ्यादर्शन भी कहते हैं। अपने स्वभाव के बारे में अनादि से ऐसी भूल होने के उपरान्त, कुगुरुओं के उपदेश द्वारा वीतरागदेवादि से विपरीत कुदेवादि की मान्यता को जीव ग्रहण करता है वह गृहीत मिथ्यात्व है; उसका वर्णन पीछे (गाथा ९ से) करेंगे। जीव ने गृहीत मिथ्यात्व को तो कई बार छोड़ा है, परन्तु आत्मश्रद्धानपूर्वक अगृहीत मिथ्यात्व कभी नहीं छोड़ा। कभी बाह्य त्यागी हुआ और शुभभाव करके स्वर्ग में गया तब भी उस शुभराग में धर्म मानकर उस राग के ही अनुभव में रुक गया, राग से भिन्न चेतनरूप आत्मा का अनुभव न किया, यार्ते अगृहीत मिथ्यात्व न छूटा। कुदेवादि के सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्व को छोड़ा और सच्चे देव गुरु को माना, पंच महाव्रत का पालन भी किया, क्योंकि इसके बिना नवमी ग्रैवेयक तक नहीं जा सकता। इसप्रकार जीव ने गृहीतमिथ्यात्व छोड़कर भी, उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्रगट न किया और मिथ्यात्व न छोड़ा, इस कारण संसार-भ्रमण ही बना रहा; अतः यहाँ जीवादि का यथार्थ स्वरूप जानकर मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करने का उपदेश देते हैं।

आत्मा का स्वरूप कैसा है? सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा ज्ञान-आनन्द स्वरूप देखा है; देह से भिन्न देखा है। ऐसे आत्मा को जानने से देह के साथ एकत्वबुद्धि छूट जाती है। आत्मा के स्वभाव में दुःख नहीं है, आत्मा तो ज्ञान-आनन्द व शांति से भरा है, देहमूर्त है, आत्म अमूर्त है। 'विनमूरति' अर्थात् वर्णादि रूप से रहित, और 'चिन्मूरति' अर्थात् चैतन्यस्वरूप ऐसा आत्मा है।

कर्म और शरीर अजीव है, पुण्य-पाप आस्रव है; उसको ही जीव का

स्वरूप समझना - यह तो सर्वज्ञ भगवान के उपदेश से विपरीत मान्यता है, अतएव मिथ्या श्रद्धा है। अनन्त जीव सर्वज्ञ-केवली भगवान हुए, सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर भगवंत विदेहक्षेत्र में (मनुष्यलोक में ही) सर्वज्ञता सहित वर्तमान में विराज रहे हैं; उन सब भगवंतों ने उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, आत्मा को जड़रूप रागरूप नहीं देखा। उपयोगरूप आत्मा भगवान ने देखा और उपदेश में ऐसा ही दिखाया। ऐसे आत्मा को देह से पृथक् अनुभव में लेकर हे जीव! मिथ्यात्व को छोड़।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - ये सात तत्त्व प्रयोजनभूत हैं अर्थात् उनका ज्ञान करना वह प्रयोजनभूत है। अजीव या आस्रव-बन्ध ये तो मोक्ष के लिये प्रयोजनभूत नहीं हैं; परन्तु उनको छोड़ने के लिये उनकी पहचान करना यह प्रयोजनभूत है। पहचान के बिना उनको छोड़ेगा कैसे? घर में कोई दुश्मन घुस गया हो, उसको पहचाने नहीं और मित्र मान ले तो उसको घर से निकालेगा कैसे? वैसे रागादि आस्रव जो कि शत्रु जैसा है, उसको जो मित्र मान ले (अर्थात् उसको धर्म का साधन मान ले) तो उसको छोड़ेगा कैसे? सभी तत्त्वों का स्वरूप जैसा है; वैसा (अन्यूनं अनतिरिक्तं) जानकर सच्ची श्रद्धा करने से भूल मिटती है; और भूल मिटने पर दुःख मिटता है। अतः जिसको दुःख से छूटकर सुखी होना हो उसको जीवादि सात तत्त्वों का एवं सच्चे देव-गुरु-धर्म का स्वरूप पहचानना चाहिए। शुद्धदृष्टि से देखने पर सभी तत्त्वों में शुद्ध जीव ही उपादेय है। अजीव तो भिन्न है, आस्रव-बन्ध दुःख के कारण हैं; संवर-निर्जरा सुख के कारण हैं; और पूर्ण सुखरूप मोक्ष है।

जीव कैसा है? - चेतन है। चेतन का अर्थात् जीव का निजरूप तो उपयोग है। जीव चेतनरूप सुख से भरा है; अजीव में ज्ञान या सुख-दुःख नहीं हैं। जीव ही ज्ञान से स्वपर को जानता है और अपने सुख का वेदन करता है। जगत् में अन्य किसी की उपमा जिसको लागू नहीं होती ऐसा

अनुपम जीवतत्त्व उपयोगरूप है। ऐसे निजतत्त्व की पहचान के बिना जीव दुःखी हुआ; जब अपनी पहचान करे तब मिथ्यात्व मिटे और दुःख छूटे। 'मैं उपयोगस्वरूप जीव हूँ' – ऐसे अनुभव के बिना देहबुद्धि मिटे नहीं और सुख प्रगटे नहीं।

पहली ढाल की १४वीं गाथा में कहा था कि 'कैसे रूप लखै अपनो' - विषयों में मग्न जीव अपना रूप अर्थात् आत्मा का स्वरूप कैसे पहचान सकता है? आत्मा का निजरूप क्या है सो यहाँ कहा कि -

'चेतन को है उपयोगरूप, विनमूरति चिन्मूरति अनूप।'

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में भी यही कहा है -

- (अहमिकको खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा अरूवी
मैं एक, शुद्ध, ज्ञानदर्शनमय, सदा अरूपी हूँ
- (सव्वणहुणाणदिट्ठो जीवो उवओग लक्खणो णिच्चं)
सर्वज्ञ के ज्ञान से देखा गया जीव नित्य उपयोगलक्षण रूप है।
- नाटक-समयसार में पं. बनारसीदासजी भी कहते हैं कि -
'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो'
- श्रीमद् राजचंद्रजी आत्मसिद्धि काव्य में कहते हैं कि -
'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयंज्योति सुखधाम।'

इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ जीव का यथार्थ स्वरूप ज्ञानीजनों ने स्वयं अनुभव में लेकर शास्त्र में दिखाया है; उसी प्रकार अच्छी तरह पहचानना चाहिए।

- नवतत्त्वों में जीव चेतनरूप;
- चेतनारहित पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव;
- मिथ्यात्व और रागद्वेषादि भाव - जिनसे कर्म आते हैं व बंधते हैं,
आस्रव तथा बंध;

- सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्धात्मा का ज्ञान व उसमें लीनता से शुद्धता होने पर नये कर्म का निरोध होना और पुराने कर्मों का झड़ जाना – वह संवर-निर्जरा,
- और सम्पूर्ण सुखरूप तथा कर्म के सर्वथा अभावरूप मोक्ष है।

ऐसे तत्त्वों को पहचान करे तब जीव का मिथ्यात्व मिटे। अतः अपने हित के लिये सात तत्त्वों का ज्ञान उपयोगी है, आवश्यक है। तत्त्व को जाने नहीं और धर्म करना चाहे, तो वह नहीं हो सकता। धर्म करने के लिये अर्थात् सुखी होने के लिये जीवादि तत्त्वों को पहचानकर उनके सम्बन्ध में विपरीत मान्यता मिटा देना चाहिए।

सर्वज्ञदेव ने जीव सदा उपयोगलक्षणरूप देखा है। आत्मा का स्वरूप उपयोगमय है। ऐसा उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा जिसने अपने ज्ञान में न देखा वह जीव तत्त्वों में कहीं न कहीं भूल करेगा; और जहाँ भूल होगी वहाँ दुःख होगा। इसप्रकार (मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-आचरण दुःखरूप है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सुखरूप है।

- मैं स्वयं कैसा हूँ - यह जाने बिना जीव अपने में स्थिर कैसे होगा?
- अजीव को अजीवरूप जाने बिना उससे भिन्नता कैसे करेगा?
- दुःख का कारण कौन है उसको जाने बिना उसका त्याग कैसे करेगा?
- और मोक्ष पूर्ण सुखरूप है उसको जाने बिना उसके लिये प्रयत्न कैसे करेगा?

इसप्रकार सुख व उसका उपाय, तथा दुःख व उसका कारण, इनका ज्ञान करने के लिये सात तत्त्वों को पहचानना जरूरी है।

यदि अजीव को जीव मान लेगा तो उसमें से अपने उपयोग को कैसे हटायेगा?

शुभ-अशुभ ये दोनों आस्रव होने पर भी उसको यदि संवर मान लेगा तो उसको छोड़ेगा कैसे?

यदि अजीव-देह की क्रिया को अपनी मानेगा तो उस अजीव से भिन्न आत्मा का अनुभव कैसे करेगा?

सम्यग्दर्शनपूर्वक जो शुद्धता है वही सच्चा संवर है, उसको न जानकर यदि देह की क्रिया को संवर मानेगा या राग को संवर मानेगा तो उससे भिन्न अपने आत्मा का अनुभव कैसे करेगा?

ऐसे तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान के बिना मिथ्यात्व मिटता नहीं। अतः श्रीगुरु कहते हैं कि हे जीव! तेरा स्वरूप भगवान ने जैसा कहा है वैसा तू जान। इसको जाने बिना तेरी भूल छूटेगी नहीं और भ्रमण मिटेगा नहीं। आत्मज्ञान के बिना बहुत शुभभाव करके जब स्वर्ग में गया तब भी साथ में अगृहीत मिथ्यात्व को ले करके गया, इसकारण वहाँ भी दुःखी ही हुआ। आत्मा के ज्ञान के बिना कहीं भी सुख का स्वाद नहीं आता। (ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण...)

उपयोग अर्थात् देखना-जानना, वही चेतन का रूप है। शरीर तो अजीव है जड़ है रूपी है; वह कुछ नहीं जानता। उपयोग लक्षण के द्वारा आत्मा देह से भिन्न अनुभव में आता है। अमूर्त आत्मा सबका जाननेवाला है। ज्ञानभाव को पुण्यपाप रूप मानना या देहरूप मानना सो मिथ्यात्व है; उसने जीव को उपयोगरूप न मानकर, अजीवरूप या आस्रवरूप मान लिया यह विपरीत श्रद्धान हुआ। अज्ञानी जीव तत्त्वों का सच्चा स्वरूप न पहचानकर उनको एक-दूसरे में मिला देता है। जाननेवाला चेतनतत्त्व जड़ की भी क्रिया करे – यह कैसे हो सकता है? उपयोग की क्रिया जड़रूप कैसे होवे? - कभी नहीं हो सकती। चेतनरूप आत्मा में वर्ण-गन्ध-स्पर्शरूप मूर्तपना नहीं है, वह तो उपयोगरूप अमूर्त है, अतीन्द्रिय है; ऐसे आत्मा की पहचान से ही सम्यग्दर्शन होता है और मिथ्यात्व मिटता है। अतः श्रीगुरुओं ने उसका स्वरूप समझाया है।

हे भाई ! सर्वज्ञभगवान ने सभी आत्मा को सदा उपयोगस्वरूप देखा

है, वह अजीव कैसे हो? या शरीररूप कैसे हो? आत्मा अपना उपयोगरूप छोड़ करके जड़रूप कभी नहीं होता। अतः ऐसा भेदज्ञान करके तू प्रसन्न हो और देह से भिन्न आत्मा को अनुभव में ले – इसप्रकार सर्वज्ञदेव के देखे हुए उपयोगरूप आत्मा को जो जानते हैं उनको सभी तत्त्वों का सच्चा ज्ञान हो जाता है और विपरीतता दूर हो जाती है। उपयोगरूप आत्मा अजीव नहीं है, अतः अजीव की क्रिया वह नहीं करता।

प्रश्न :- अजीव का चलना-फिरना-बोलना यह तो जीव ही करता है न? - क्योंकि अजीव में तो कोई शक्ति नहीं होती।

उत्तर :- ऐसा नहीं है; अजीव में भी उसकी अनन्त शक्तियां हैं और अपनी क्रियाएँ वह स्वयं अपनी शक्ति से करता है। प्रत्येक जड़-रजकण में उसके अनन्त जड़-गुण विद्यमान हैं और उसकी ही शक्ति से उसमें स्वयं रूपान्तर होकर चलना-फिरना-बोलना आदि क्रियाएँ होती रहती हैं; और स्थिर रहना, मौन रहना यह भी उसकी एक क्रिया है। जीव उनको नहीं करता। इसप्रकार जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न समझना चाहिए। जीव-अजीव को सर्वथा भिन्न पहचानने से सम्यक्-श्रद्धा होकर वीतराग विज्ञान प्रगटता है।

जगत् में भिन्न-भिन्न अनन्त जीव हैं; जीव से अनन्तगुणे पुद्गल हैं; असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं; धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाश – ये एक-एक द्रव्य हैं। इन छह प्रकार के द्रव्यों में से जीव को छोड़कर अन्य पाँच अजीव हैं; और पुद्गल को छोड़कर शेष पाँच अमूर्त हैं। जगत् में ये छहों प्रकार के द्रव्य सर्वज्ञदेव ने स्वतंत्र भिन्न-भिन्न देखे हैं; उनको स्वतंत्र न मानकर पराधीन मानना यह सर्वज्ञ का अविश्वास है अर्थात् तत्त्वश्रद्धान में विपरीतता है। छह द्रव्य के अस्तित्वरूप जो यह विश्व, उसका कोई कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं है। कर्ता = उत्पादक; हर्ता = नाशक; धर्ता = धारण करनेवाला; द्रव्य स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भाव से अपनी

अवस्था का कर्ता-हर्ता व धर्ता है, दूसरा कोई न उसका कर्ता है, न हर्ता है और न धर्ता।

छहों द्रव्यों में से एक आत्मा ही उपयोगरूप है, इसलिये आत्मा ही अनुपम है। अहो। जो सर्वज्ञस्वभावी महान पदार्थ है उसको उपमा किसकी दी जाय? अनादिकाल से आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव है वह अन्य किसी में भी नहीं है; शरीर में नहीं, राग में नहीं, ऐसा उपयोग ही जीव का लक्षण है। अलौकिक चीज आत्मा है, उसके स्वभाव को अन्य कोई बाह्य पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती, अपने स्वभाव से ही वह जाना जाता है। ऐसे आत्मा को जब स्वानुभव से जाने तभी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्ज्ञान या सम्यक्चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शन से रहित सभी शुभ क्रियाएँ बिना इकाई के शून्य के समान हैं - धर्म में उनका कोई मूल्य नहीं। जैसे चक्षु से रहित मनुष्य की शोभा नहीं होती, वैसे आँखें तो उपयोगरूप ज्ञानदर्शन हैं, पुण्य-पाप ये जीव की आँखें नहीं हैं, ये बाहर की आँखें तो जड़ हैं। उपयोगस्वरूप निजात्मा को जानने-देखने रूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान जिसके नहीं खुले हैं उस अन्धे की (ज्ञानांध की) शुभ क्रियाएँ भी धर्म के लिये शोभा नहीं देतीं, अर्थात् धर्म का कारण नहीं होतीं, अपितु संसार का ही कारण होती हैं। जो अपने को न देखे, न जाने उसे धर्म कैसा? उसके तो सम्यक्त्वरूपी नेत्र ही नहीं खुले।

जीवादि सात तत्त्वों को शुद्धात्मदृष्टिपूर्वक जानना चाहिए; जैसे कि - अजीव का ज्ञान ऐसा करना कि उसमें मैं नहीं हूँ, मेरे से वह भिन्न है। उसी तरह राग को जानते समय उससे चैतन्य की भिन्नता समझना चाहिए। ऐसे भेदज्ञानपूर्वक जाने तभी तत्त्वों का सच्चा ज्ञान होता है; किन्तु जो शरीर को या राग को आत्मा का स्वरूप मान ले उसको तत्त्व का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जीव और अजीव ये दो मूलभूत तत्त्व हैं और शेष तत्त्व उनकी अशुद्ध या शुद्ध पर्याय हैं। इन सात तत्त्वों की पहचान करनेवाला जीव

अपने को अजीव से भिन्न, उपयोगस्वरूप जानता है; अतएव अजीव के साथ एकता बुद्धि को छोड़कर शुद्ध जीवस्वभाव का आश्रय करके मिथ्यात्वादि आस्रव-बन्ध को छोड़ता है, और सम्यक्त्वादिरूप संवर-निर्जरा-मोक्षदशा को प्रगट करता है। सात तत्त्वों के ज्ञान का यह फल है; अतएव मुमुक्षु को सात तत्त्व का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जीव ने अनादिकाल से सात तत्त्वों को यथार्थरूप से नहीं जाना। यह तो वीतराग वाणी में आई हुई प्रयोजनभूत बात है। सात तत्त्व में उपयोग स्वरूप जीव मैं हूँ - ऐसी अनुभूति करने से मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व होता है।

मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? इसका सच्चा विचार भी जीव ने कभी नहीं किया। जिसको चार गति के घोर दुःखों से छुटकारा पाना हो उसको अपने अन्दर में उपयोगस्वरूप आत्मा का विचार करके उसकी पहचान करना चाहिए। शास्त्रकारों ने करुणा करके यही स्वरूप समझाया है।

जीव की चाल अजीव से न्यारी

(जीव-अजीव के बारे में अज्ञानी की भूल)

जिस भूल के कारण से जीव संसार में दुःखी हो रहा है उस भूल का स्वरूप समझाकर, उससे छुड़ाने के लिये यह उपदेश है -

(गाथा-३)

पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।

ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥३॥

उपयोगस्वरूप जीव है, इसके सिवाय पुद्गल, आकाश; धर्म, अधर्म काल - ये पाँच अजीव है; जीव की चाल उन अजीवों से न्यारी है। अजीव द्रव्यों से जीवद्रव्य अलग, जीव के गुण अलग, और जीव की परिणति अलग, ऐसे सर्व प्रकार से भिन्नता है। पाँच अजीव द्रव्यों में कहीं भी उपयोग नहीं है, आत्मा ही उपयोगरूप है। जैसे शक्कर मीठी है वैसे

जीव उपयोगमय है; उसकी चाल, उसकी दशा सबसे न्यारी है, उसका स्वभाव न्यारा है - जो अन्य किसी में नहीं है। ऐसे जीव को न पहचानकर अज्ञानी देह को ही जीव मान लेते हैं, सो मिथ्यात्व है। उपयोग में निजपिछान करनी चाहिए इसके बदले में देह में निजपिछान की (देह ही मैं - ऐसा माना), अपने को उपयोगरूप न मानकर देहरूप माना; मैं बालक, मैं जवान, मैं बुढ़ा, मैं काला, मैं सफेद, मैं खाता हूँ, मैं बोलता हूँ - इसप्रकार देह को ही जीव मान लिया, परन्तु उससे अत्यन्त भिन्न अपनी उपयोग-चाल को जीव ने नहीं जाना।

जीव की चाल तो चेतनरूप है। चेतनरूप चाल अर्थात् चेतनरूप क्रिया जगत् के अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं हैं। चाल माने स्वभाव, परिणति, क्रिया। जीव और अजीव दोनों की चाल, दोनों का स्वभाव, दोनों की क्रिया अत्यन्त न्यारी है। ऐसे भेदज्ञानरूप वीतराग-विज्ञान के बिना मिथ्यात्ववश जीव संसार में परिभ्रमण करता है। सो यह जीव की भूल है।

जीव अपनी भूल को न देखकर दोष का भार कर्मों के ऊपर डालने की चेष्टा करता है। परन्तु भाई! उस जड़ कर्म को तो कुछ जानकारी ही नहीं कि 'हम जड़ हैं और जीव को हम दुःख दें!' उस कर्म को जाननेवाला तो यह जीव है, उसने भूल से ऐसा मान लिया कि यह कर्म मुझे हैरान कर रहे हैं। यह तो ऐसी बात हुई कि - जैसे कोई मूर्ख झाड़ के टूँठ को या पत्थर के पुतले को स्वयं पकड़कर फिर ऐसा पुकारे कि 'अरे, इसने मुझे पकड़ा, इसने मेरे को बाँधा;' लेकिन भाई! तू स्वयं अपनी भ्रान्ति से बँधा है, उसने तुझे नहीं पकड़ा अज्ञानी जीव भ्रान्ति से ऐसा मान रहा है कि यह शरीर ही मैं हूँ। भाई! तुम तो चेतन, और वह जड़, इन दोनों का मिलान कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता; दोनों जुदे ही हैं। अरे, अपने भाव में मिथ्यात्व क्या है - इसकी भी जीव को खबर नहीं है। अरिहंत भगवान का नाम ले

लिया और कुदेव को न माना - इतने से मिथ्यात्व छूट नहीं जाता। अरिहन्त का नाम तो लेते हो; परन्तु अरिहन्तदेव के कहे हुए तत्त्वों को पहचानते नहीं हो; तो तुम्हारा मिथ्यात्व कैसे छूटेगा? अरिहन्तदेव की कही हुई जीव-अजीव की भिन्नता को जाने बिना मिथ्यात्व मिटेगा नहीं और अरिहन्तदेव की भी सच्ची पहचान होगी नहीं। जो अरिहन्तदेव के सच्चे स्वरूप को पहचाने उसके मोह का नाश होकर सम्यक्त्व होता है।



मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्व की विपरीत (उल्टी) मान्यता, वह दुःखरूप है और संसार का कारण है, अतः उसे छोड़ने के लिये उसकी पहचान कराते हैं। मिथ्यादृष्टि को शरीर में ही 'अहम्' हो गया है; किन्तु उससे भिन्न अपनी चैतन्यजाति को वह नहीं देखता। जीव और अजीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सब भिन्न-भिन्न हैं, ऐसी भिन्नता का ज्ञान करने से मिथ्यात्व मिटता है और चार गति के भवभ्रमण का दुःख छूटता है।

उपयोगस्वरूप चिन्मूर्ति जीव, इसके अतिरिक्त पाँच द्रव्य अजीव हैं -

(१) पुद्गल :- शरीर, भाषा ये सब पुद्गल की रचनायें हैं; वह मूर्त है, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श उसका स्वभाव है।

(२) धर्मास्तिकाय नामक एक अरूपी जड़ द्रव्य सारे लोक में प्रसर रहा है; मछली को पानी की तरह यह द्रव्य जीव-पुद्गल के गमन में निमित्त है।

(३) अधर्मास्तिकाय नामक एक अरूपी जड़ द्रव्य सारे लोक में फैल रहा है; पथिक को वृक्ष की छाया की तरह यह द्रव्य जीव-पुद्गलों के स्थिर होने में निमित्त है।

(४) नभ अर्थात् आकाश नामक एक अरूपी जड़ द्रव्य सर्वव्यापी है - जो सर्व पदार्थों के रहने में निमित्त है। आंखों से जो ऊपर नीला आकाश (बादल) दिख रहा है वह अमूर्त आकाश द्रव्य नहीं है, वह तो

मूर्त पुद्गल स्कंधों की रचना है। अरूपी आकाश आँख से नहीं दिखता। वह आकाश तो नीचे-ऊपर सभी दिशाओं में सर्वत्र है।

(५) काल नामक असंख्य अरूपी जड़ द्रव्य लोक में सर्वत्र स्थित है; कुम्हार के चाक की धुरी की तरह पदार्थों के परिणामन में वह निमित्त है।

‘जीव के अतिरिक्त ये पाँचों द्रव्य अचेतन हैं’, उनमें ‘उपयोग’ नहीं है; उपयोग के कारण ही जीव की उनसे महानता है, जीव की चाल उन सबसे न्यारी है। जीव में ही स्व-पर को जानने का स्वभाव है, अन्य किसी में नहीं।

अहो! जीव व अजीव की कितनी भिन्नता है। तो भी जीव उसको न जानकर विपरीत मानता है। शरीर या भाषा वह मैं नहीं, मैं तो ज्ञान हूँ; शरीर मैं नहीं, किन्तु शरीर का जाननेवाला मैं हूँ; - इसप्रकार अपने को ज्ञान-स्वभावरूप पहचानने से मिथ्यात्व मिट जाता है।

जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को विपरीत मानकर मिथ्यात्व के सेवन से जीव दुःख को ही उत्पन्न करता है; देह में आत्मबुद्धि कर-करके वह दुःखी होता है, जैसे दर्पण में दिखने वाले प्रतिबिम्ब को ही कोई मूर्ख अपना रूप समझ ले और फिर उस प्रतिबिम्ब का नाश होने पर अपना ही नाश मानकर दुःखी होवे, वैसे अज्ञानी बड़ा मूर्ख अपने को देहरूप ही मान रहा है ‘मैं मनुष्य,’ ‘मैं पुरुष’ ऐसा-ऐसा मानकर शरीर की चेष्टाओं को ही अपनी मान रहा है; - यह जीवतत्त्व के सम्बन्ध में बड़ी भूल है। जानने वाला उपयोगस्वभावी आत्मा है उसकी चाल जड़ देह से जुदी है, उसको जुदा न जानकर एक-दूसरे में मिलाकर एकरूप मानता है, जड़कर्म का बांधनेवाला आत्मा, जड़शरीर को चलानेवाला आत्मा, इन्द्रियवाला आत्मा, - इसप्रकार जड़रूप से आत्मा को पहचानता है, यह पहचान सच्ची नहीं है। जीव को उपयोगस्वरूप से पहचानना ही सच्ची पहचान है और जब जीव की ऐसी पहचान करे तब ही अरिहन्त-सिद्ध-मुनि वगैरह की सच्ची पहचान होती है।

क्या जीव शरीर को चलाता है? क्या जीव बोलता है? - ना; ये तो सब जड़ की चाल है; आत्मा की चाल तो जाननेरूप (ज्ञानरूप) है। पं. बनारसीदासजी ने कहा है कि -

तनता, मनता, वचनता, जड़ता, जड़संमेल;
गुरुता, लघुता, गमनता ये अजीव के खेल।

अर्थात् तन की, मन की, वचन की सब क्रियाएँ अजीव का खेल हैं; उस अजीव से भिन्न जीव का विलास कैसा है? वह भी कहते हैं कि -

समता, रमता, ऊर्धता, ज्ञायकता, सुखभास;
वेदकता, चैतन्यता, ये सब जीवविलास।

हे भाई ! देखो, यह अजीव से भिन्न तुम्हारे आत्मा का विलास! जीव उपयोगमय है, सुखमय है, इसकी तो पिछान नहीं करते हो और जड़ देह से ही अपनी पिछान करते हो, अर्थात् देह ही मैं हूँ ऐसी मिथ्याबुद्धि करके देहको ही सम्हालने की चेष्टा करते हो; किन्तु हे मूर्ख! उस शरीर में तो जड़ का अधिकार है, तुम्हारा नहीं। तुम्हारा अधिकार, तुम्हारा विलास, तुम्हारा आनन्द तुम्हारे उपयोग में है, उस उपयोग की संभाल करो। तुम्हारा अस्तित्व उपयोग में है, देह में नहीं; यदि देह नहीं होगी तो भी उसके बिना तुम जीवित रहोगे, किन्तु उपयोग के बिना एक क्षण भी जी नहीं सकोगे; जैसे सिद्ध भगवन्त देह के बिना अपने उपयोग से ही शाश्वत जी रहे हैं; वैसा ही तुम्हारा उपयोग-जीवन है। उपयोग के बिना जीव का जीवन या अस्तित्व नहीं हो सकता। उपयोग-स्वभाव में अपना अस्तित्व होने पर भी जड़ में अपना अस्तित्व मानते हैं और अपने 'उपयोग-जीवन' को भूल जाते हैं, ऐसी महान भूल के होने से जीव निरन्तर महान् दुःख को भोगते हैं। अब उस भूल को दूर कर दुःख से छूटने के लिये भेदज्ञान का यह उपदेश है। मुमुक्षु को यह भेदज्ञान बार-बार घोलन करने योग्य है।

भाई ! जीव और पुद्गल दोनों की चाल एक-दूसरे से भिन्न है; आत्मा कभी अपनी उपयोग-चाल को छोड़कर पुद्गल की चाल में नहीं जाता.... पुद्गल में नहीं परिणमता। जीव और अजीव दोनों की परिणति अपने-अपने में भिन्न-भिन्न है; अपनी परिणति के प्रवाह को छोड़कर दूसरे की परिणति में कोई नहीं जाता।

मैं देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ - ऐसे अनुभव के बिना देहबुद्धि मिटेगी नहीं। देह आत्मा है - ऐसा भले सीधा न कहे, देह व आत्मा भिन्न है - ऐसा शास्त्र से सुनकर कहे, परन्तु जिसके अन्तर में ऐसी बुद्धि है कि - देह का कार्य मैं करूँ, मेरे अस्तित्व के कारण से देह टिक रहा है या देह की क्रिया मुझे धर्म में सहायता करती है - ऐसी मान्यता वाले को देह के साथ एकत्व की कुबुद्धि विद्यमान ही है; वह देह में ही आत्मा का अस्तित्व मान रहा है, (करे देह में निजपिछान) देह से भिन्न अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व उसको दिखता ही नहीं।

मैं इन्द्रियों से ज्ञान करनेवाला हूँ ऐसा जो मानता है उसने जड़-इन्द्रियों को ही आत्मा मान रखा है, इन्द्रियों से भिन्न उपयोगस्वरूप आत्मा उसने नहीं जाना। ज्ञान का व इन्द्रियों का एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं है; एक चेतन है, दूसरा जड़ है, दोनों की चाल न्यारी है, दोनों का स्वभाव न्यारा है। इन्द्रियों से ज्ञान माननेवालों ने अपना अस्तित्व इन्द्रियों में माना है। जबतक देह में एकत्वबुद्धि रहे, और उससे अपनी भिन्नता न जाने तबतक जीव को सामायिक आदि कोई धर्म नहीं होता। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ सामायिक-प्रतिक्रमणादि कैसा? शरीर स्थिर बैठने की क्रिया मैंने की अथवा दो घड़ी तक शरीर बैठा - इससे मुझे धर्म हो गया - ऐसा जो मानता है उसने आत्मा को देह से भिन्न नहीं माना, उसने 'कायोत्सर्ग' (काया का ममत्व-त्याग) नहीं किया, अपितु 'काया की पकड़' की है, ममता की है। हे भाई! देह का काम तुम्हारा नहीं है, अज्ञानी ने भी देह का

काम कभी नहीं किया, मात्र झूठ मान लिया है और यह मिथ्या मान्यता ही घोर दुःख का मूल है।

मिथ्यात्व बड़ा पाप है, उस पाप का त्याग किये बिना अव्रत कषायादि का भी त्याग नहीं हो सकता। इसप्रकार जिसको देह में आत्मबुद्धि है और ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा को जो नहीं जानता वह जीव मिथ्यात्व के कारण से जन्म-मरण के बहुत दुःखों को भोगता है। (भ्रमत भरत दुःख जन्म-मर्ण) मिथ्यात्व के रहते हुए चाहे जो करो किन्तु दुःख मिटेगा नहीं और सुख होगा नहीं। अतः मिथ्यात्व को महा दुःखदायक जानकर तुरत छोड़ देना चाहिए और आत्मा की पहचान करनी चाहिए।

जीव-अजीव के बारे में विशेष भूल

जीव उपयोगस्वरूप है उसको अज्ञानी नहीं पहचानता; जीव और देह की चाल भिन्न-भिन्न है – ऐसा न जानकर उनको एकमेक मानता है और अपने को देहरूप ही समझकर उसमें निजपिछान करता है; – ऐसी अज्ञानी की भूल का कथन गाथा २-३ में किया। अब, अपने को देहरूप मानने से और भी कौनसी भूल होती है – यह दिखाते हैं –

(गाथा-४)

मैं सुखी-दुःखी मैं रंक-राव, मेरे धन-गृह गोधन प्रभाव।

मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप-सुभग मूरख-प्रवीन॥४॥

चिन्मूर्ति उपयोगस्वरूप मैं हूँ – यह भूलकर अज्ञानी जीव अपने को शरीररूप मानता है; अतः शरीर सम्बन्धी स्त्री-पुत्रादि पदार्थों को भी वह अपना मानता है, शरीर की अवस्था को लेकर मैं बलवान या मैं दीन ऐसा वह मानता है; धन, गृह, गाय-भैंस रेडियो-मोटर ये सब मेरे ही हैं, शरीर अच्छा हो तब मैं सुखी और शरीर रोगी हो तब मैं दुखी – ऐसा मानता है, परन्तु शरीर की जाति तो जड़ है, तुम तो चैतन्यजाति के हो। तुम्हारी

चैतन्य जाति स्वयं सुखस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्व के कारण अपनी चैतन्य जाति को भूलकर, देह की जाति अपनी मानकर दुःख उत्पन्न किया है। उस मिथ्यात्व का नाश करने पर आत्मा स्वयं अपने आप आनन्दस्वरूप है; सुख अपने में ही है, देह में कुछ सुख नहीं है। मिथ्यात्वादि के अभाव से आत्मा में रागरहित जो सहज आनन्द अनुभव में आता है वह सुख है; इसके सिवाय कहीं भी बाहर में देह स्त्री-धन-बंगला-मोटर आदि में सुख मानना वह तो मिथ्या कल्पना है। आत्मा पर वस्तु का वेदन नहीं करता, परन्तु पर के प्रति राग करके उस राग के वेदन से अज्ञानी अपने को सुखी मानता है और पर को मैंने भोगा ऐसा मानता है; सुख परभावों में नहीं है, संयोग एवं परभावों से रहित आत्मा को दृष्टि में लेने पर जो सुख का वेदन हुआ वही सच्चा सुख है।

रेडियो-मोटर-मकान-तिजोरी, ये तो सब जड़ हैं, उनमें सुख कैसा? – जो उनमें से सुख लेना चाहता है वह अपने आत्मा के सच्चे सुख को भूल रहा है। अरे, स्वयं तुम ही जीव होते हुए भी तुमने जीव की चाल को जानी नहीं, जीव का जीवन जाना नहीं और मूढ़ होकर अजीव में अपना अस्तित्व मान रखा है; क्योंकि जिसमें जीव अपना सुख माने उसमें वह अपना अस्तित्व मानता ही है।

अज्ञानी ने बाह्य वस्तु को निजरूप मान ली है, अतः वह बाह्य की अनुकूलता से अपने को सुखी मानता है और प्रतिकूलता से दुःखी मानता है। जो अनुकूलता में सुख माने वह प्रतिकूलता में दुःख माने बिना नहीं रह सकेगा, अतएव उसको सच्चा समभाव नहीं रहेगा। देह में रोग आने पर 'अरे, मैं मर गया, मेरे जैसा कोई दुःखी नहीं' ऐसे वह अज्ञानी दुःखी होता है। यद्यपि देह की अनुकूलता के समय भी मोहबुद्धि से वह दुःखी ही है, परन्तु देहबुद्धि की आड़ में उसे वह दुःख दिखता नहीं। आत्मा का सुख कैसा है उसको लक्ष में लिये बिना दुःख की भी पहचान नहीं होती;

जैसे दुर्गन्धी विष्टा का कीड़ा उस विष्टा में भी सुख मान रहा है वैसे मोह का कीड़ा (मिथ्यादृष्टि) मोह में सुख मानता है; राग में सुख मानता है।

अन्य लोग निरोगी और मैं रोगी, दूसरा धनवान और मैं निर्धन, दूसरों को स्त्री-पुत्रादि और मेरे को कुछ नहीं, दूसरा सुरूपवान और मैं कुरूप, दूसरे को बड़ी-बड़ी पदवियाँ और मुझे छोटी सी नौकरी – इसप्रकार संयोग में ही अपना अस्तित्व देखता हुआ अज्ञानी दुःखी होता है। अरे जीव! क्या उनमें कहीं तेरा अस्तित्व है? – नहीं; तुम तो उत्कृष्ट चैतन्यरूप के धारक हो; सर्वज्ञपद से भरी हुई तुम्हारी आत्मविभूति जगत् में सर्वोत्कृष्ट है; अरे! तुम जड़ देह में मूर्छित क्यों हो गये? तुम विज्ञानघन आनन्दमूर्ति भगवान अपने को भूलकर मृतक कलेवर (शरीर) में कैसे मोहित हो गये हो? शरीर की अवस्था से तुम अपने को सुखी-दुःखी मानते हो - यह महान भूल है। पैसेवाला मैं, अथवा गरीब मैं – यह भी बाह्यबुद्धि है। जब शरीर भी तुम्हारा नहीं तब धन-पुत्र-मकान आदि तुम्हारे कैसे हो गये? उनका तो क्षेत्र भी तुमसे दूर है तो वे तुम्हारे कहाँ से हो गये? पैसे के द्वारा तुम धनवान या गरीब नहीं हो, तथापि तुम तो चैतन्यलक्ष्मी का निधान हो, आनन्द का भण्डार हो; जिसकी प्रीति के बल पर छहों खण्ड की विभूति का मोह क्षण में छूट जाये ऐसी अनन्त चैतन्यसम्पत्ति का भण्डार तुम हो; अतः दीनता छोड़कर अपनी चैतन्यसम्पदा को सम्भालो।

बाह्य कार्य करने की बुद्धि से हो-हल्ला मचा के लोग मिथ्यात्व का सेवन करते हैं, किन्तु अपने स्वतत्त्व की सम्भाल नहीं करते। जड़ के संयोग से मैं राजा या मैं रंक – ये दोनों मान्यतार्ये मिथ्या हैं। पैसे तो पुद्गल की रचना है, वे जीव की रचना से नहीं बनते, जीव की रचना तो ज्ञानमय होती है, जड़रूप नहीं होती। असंगी चैतन्य को भूलकर परसंग को अपना मानने से जीव दुःखी होता है। कोई जीव 'मेरे रुपये' ऐसा तीव्र मोह करने से मरकर उसी रुपये के डिब्बे में ही उत्पन्न होता है। मानों रुपया ही जीव

हो – यों उसके पीछे जीवन खो देता है; किन्तु हे भाई! तेरा जीवन रुपये के अभावरूप चैतन्यमय है; रुपये के बिना ही तेरा आनन्द तेरे में है। तू कहता है बंगला मेरा, घर मेरा; परन्तु वह तो मिट्टी का है; तेरा घर तो चैतन्यमय है; चैतन्यधाम में तेरा वास है, जड़ ईंटों के ढेर में तेरा वास नहीं है। चैतन्यमय निजघर को भूलके परघर में, राग में या पत्थर के मकान में, झोंपड़े में जीव अपनेपन की बुद्धि करता है और मोह से संसार में रुलता है, बार-बार देहरूपी घर बदलता रहता है। वीतरागी संत उसको असंख्यप्रदेशी अविनाशी आनन्द का धाम – ऐसा निजघर दिखाते हैं। हे जीव! तू निजघर में कभी न आया और बाह्य में चारगतिरूप परघर में ही भ्रमता रहा; अब तो निजघर में आ!

इस छहढाला के रचयिता पं. दौलतरामजी ने ही एक भजन बनाया है, उसमें कहते हैं कि :-

हम तो कबहुँ न निजघर आये..... हम तो.

परपद निजपद मान मगन है, पर परिणति लिपटाये,

शुद्ध-बुद्ध-सुखकंद-मनोहर, चेतन भाव न भाये....हम तो.

नर-पशु-देव-नरक निज मान्यो, परजयबुद्धि लहाये;

अमल-अखण्ड-अतुल-अविनाशी आत्मगुण नहीं गाये.....

हम तो कबहुँ न निजघर आये।

पत्थर का मकान या शरीर यह तो जड़ की रचना है, उस जड़भवन में आत्मा का निवास नहीं है; आत्मा का सच्चा निवास तो ज्ञान व सुख का धाम है – ऐसे आत्मभवन में हे जीव ! तू आ ! अपने निजघर को पहचानकर उसमें तू बस।

पहले के श्रीमन्त लोग अनेक गाय – भैंस रखते थे और उसको वे अपना धन गिनते थे; गाय-भैंस के स्थान में अब तो घर-घर में रेडियो व मोटर हो गये हैं, परन्तु वे गाय-भैंस या मोटर रेडियो कुछ भी जीव का नहीं है। जीव व्यर्थ ही उनके पीछे अपना जीवन गंवाता है। वह कोई भी

जीव को शरणरूप होनेवाले नहीं हैं। राजपद या प्रधानपद भी अनन्त बार मिल चुका, परन्तु वे कोई जीव के पद नहीं वे तो अपद हैं; जीव का पद तो चैतन्यमय है। धन-शरीरादि यदि जीव के हों तो वे जीव के साथ ही रहने चाहिए और परभव में भी साथ में जाने चाहिए। मरण के समय वे तो सब यहाँ पड़े रह जायेंगे, उनके पीछे जीव ने कितने भी पाप किये हों तो भी वे जीव के साथ एक डग भी आने वाले नहीं हैं।

मृत्यु के समय जीव शरीर से कहता है कि – हे शरीर! हे मेरे मित्र! तू मेरे साथ चल; जिन्दगी भर हम तुम साथ रहे अतः अब तू भी मेरे साथ चल!

तब शरीर कहता है कि – मैं तो नहीं आऊँगा।

जीव कहता है – अरे, यह क्या? मैंने तो तेरी संभाल के पीछे सारा जीवन व्यर्थ कर दिया और बहुत पाप करके तेरा पोषण किया; अतः थोड़ी सी दूरी तक तो मेरे साथ आ !

शरीर कहता है कि – एक डग भी मैं नहीं चलूँगा। तुम तुम्हारे रास्ते, हम हमारे रास्ते। तुम्हारे भावों का फल भोगने को अन्य गति में तुम अकेले चले जाओ और मैं तो यहीं भस्म होकर मिट्टी में मिल जाऊँगा। हमारी तुम्हारी दोनों की चाल न्यारी है, दोनों का रास्ता पृथक्-पृथक् है, तुमने भ्रमसे मेरे साथ एकता मानी थी, वह तुम्हारी भूल थी।

जबकि जीवन भर एक क्षेत्र में साथ रहनेवाले शरीर की भी यह स्थिति है, तब फिर प्रत्यक्ष भिन्न रहनेवाले पुत्र-स्त्री या मकान आदिका तो कहना ही क्या? वे तो जीवन में भी जीव को छोड़कर चले जाते हैं। जीव व्यर्थ का मोह करके दुःखी होता है। मेरी माता, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी बहिन, मेरा भाई – ऐसा ममत्व करता है, परन्तु हे जीव! तू तो ज्ञान है, तू तो आनन्द है; ऐसे अपने ज्ञान-आनन्द को अनुभव में ले; वे तुझसे कभी जुदे नहीं होवेंगे। माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन तो जुदे ही हैं; वे यदि आत्मा के होते तो जुदे क्यों पड़ते? और उनके बिना आत्मा कैसे

टिकता? आत्मा तो उन सबसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप है; उसका ज्ञान उससे कभी जुदा नहीं पड़ता ! ऐसे ज्ञानस्वरूप से जब अपने को अनुभव में ले तभी आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है और तभी आत्मा को परसे भिन्न मानना कहलाता है। परको अपना मानें, और आत्मा को ज्ञानरूप भी जानें – ऐसी दो विरुद्ध बात एक-साथ नहीं बन सकती।

शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, इच्छानुसार खान-पानादि होता हो, वहाँ जीव मान लेता है कि मैं बलवान हूँ, परन्तु अरे मूर्ख! तू देह का अभिमान क्यों करता है? तेरी आत्मा में मिथ्यात्व का बड़ा रोग हुआ है। अमूर्त आत्मा मूर्तिक आहार को कैसे खावे? आत्मा तो देह और आकार दोनों से भिन्न है। अठारह साल का एक युवक अपने दोनों हाथ से दो आदमी को ऊपर उठाता था, वही जब मरण-सन्मुख हुआ तब कुछ बोलने की भी शक्ति न रही और दूसरे दो आदमी ने उसको उठाया। भाई ! देह का बल आत्मा का कहाँ है? और देह निर्बल होने पर आत्मा कहाँ निर्बल हो जाता है? हिन्दुस्तान का एक बड़ा पहलवान, – जो दौड़ती मोटर गाड़ी को पकड़कर रोक देता था और अपनी छाती पर हाथी को चलाता था तथापि मृत्यु के समय अपनी आँख पर बैठी मक्खी उड़ाने की ताकत भी नहीं रही। कहाँ गया उसका बल? वह बल आत्मा का था ही नहीं; आत्मा तो उस समय भी अन्दर विद्यमान था और बहुत इच्छा भी की थी; परन्तु शरीर में उसका क्या चले? भाई! देह का बल तेरा है ही नहीं और देह की निर्बलता भी तेरी नहीं है; तू तो ज्ञान है, ज्ञान ही तेरा रूप है।

शरीर सुन्दर रूपवाला हो या कुरूप हो, उन दोनों से आत्मा भिन्न है। सचमुच में तो आत्मा का चेतनस्वरूप ही सुन्दर है; परन्तु अपने सुन्दर निजरूप को न देखकर अज्ञानी शरीर की सुन्दरता से अपनी शोभा मानता है और शरीर कुरूप होने पर अपने को हीन समझता है। भाई ! कुरूप शरीर केवलज्ञान लेने में कोई विघ्न नहीं करता और सुन्दररूपवाला शरीर केवलज्ञान लेने में कुछ मदद भी नहीं करता। अनेक जीव सुन्दर रूपवाले

होकर भी पाप करके नरक गये हैं एवं कुरूप शरीरवाले भी अनेक जीव आत्मज्ञान करके मोक्ष गये हैं। यद्यपि तीर्थकरादि उत्तम पुरुषों के तो देह भी लोकोत्तर होते हैं, किन्तु वह भी आत्मा से तो भिन्न ही है। देह आत्मा की वस्तु नहीं है। देह से भिन्न आत्मा को जो पहचाने उसने ही भगवान को सच्चे रूप से पहचाना है। जो देह है वह भगवान नहीं है, भगवान तो अन्दर में चैतन्यमूर्ति केवलज्ञानादि गुणसहित जो विराजमान है – वह है। प्रत्येक आत्मा ऐसा चेतनरूप है; शरीर सुन्दर हो या कुरूप – वह जड़ का रूप है, आत्मा उस रूप कभी नहीं हुआ। जो जड़ है वह तीनोंकाल जड़ ही रहता है, और जो चेतन है वह तीनों काल चेतन ही रहता है। जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं होते; शरीर और आत्मा सदैव जुड़े ही हैं। ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन होकर अपूर्व शांति होती है। ऐसे आत्मा की धर्मदृष्टि के बिना मिथ्यात्व मिटता नहीं, दुःख टलता नहीं और शांति होती नहीं।

हे भाई ! तुम अपने मुँह पर सफेद धूलि (पाउडर) या रंग (लिपस्टिक) लगाकर शरीर को अच्छा दिखाना चाहते हो, परन्तु उस शरीर की शोभा के द्वारा तुम्हारी तो कोई शोभा नहीं है, तुम्हारी शोभा तो तुम्हारे निजी गुणों से है; सम्यग्दर्शनादि अपूर्व रत्नों के द्वारा ही आत्मा शोभता है। शरीर तो जड़, अर्थात् चेतन से रहित मृतक कलेवर है, – क्या उसकी सजावट से आत्मा की शोभा है? नहीं; भाई! सम्यक्त्वरूपी मुकुट से और चारित्ररूपी हार से तुम्हारे आत्मा को अलंकृत करो। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से आत्मा की शोभा है। चेतनभगवान की शोभा जड़ शरीर के द्वारा नहीं होती; अतः देहदृष्टि छोड़कर आत्मा को पहचानो – ऐसा उपदेश है।

अज्ञानी देहादि संयोग में आत्म-संकल्प करता है सो भूल है, यह बात की; अब यह समझाते हैं कि पर्याय में इंद्रिय-ज्ञानरूप अपनी अल्प ज्ञानपर्याय जितना ही अपने को मानना वह भी भूल है। पर्याय में ज्ञान की

मन्दता देखकर पर्यायबुद्धिवाला जीव ऐसा समझ लेता है कि मैं मूर्ख हूँ, मुझे कुछ भी नहीं आता; परन्तु अरे भाई! तुम तो केवलज्ञान लेने की ताकत से भरे हो। अल्प पर्याय जितना ही तुम नहीं हो; अनन्त केवलज्ञान निधान तुममें भरा है, उसकी श्रद्धा करो। पर्याय में ज्ञान अल्प होने पर आत्मा को उतना ही समझकर अपने को मूर्ख मान लिया और आत्मा में केवलज्ञान स्वभाव है उसको भूल गया। हे जीव ! अर्हन्तों को सर्वज्ञता कहाँ से आई? आत्मा में से आई तो तेरा आत्मा भी सर्वज्ञस्वभाववाला है, उसको लक्ष में ले तो तेरी पर्याय में मूर्खता नहीं रहेगी, तेरा ज्ञान विकसित होकर केवलज्ञान हो जायगा। अहा, चैतन्य की अपार ताकत !
– उसमें मूर्खता कैसी !

उसी प्रकार, पर्याय में अल्पबुद्धि देखकर अज्ञानी ऐसा समझ लेता है कि मैं बहुत प्रवीण हूँ, मुझे सब कुछ आता है; इसप्रकार पर्यायबुद्धि से अल्पज्ञान का अभिमान करता है; परन्तु हे जीव! अपने केवलज्ञानस्वभाव की महानता को तू भूल रहा है, अतः थोड़े से ज्ञान में तेरे को बहुत अधिकता दिखती है।

अरे ! केवलज्ञान के अपार सामर्थ्य के सामने तेरे तुच्छ ज्ञान की क्या गिनती है? अपने सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को प्रतीत में लेते ही अल्पज्ञान का तेरा अभिमान उड़ जायगा और पर्यायबुद्धि छूट जायगी। बाहर की अनेक प्रकार की जानकारी में तेरी चतुराई आत्महित के लिये कोई काम की नहीं। अन्तर्मुख ज्ञान के द्वारा आत्मा को जान ! वही सच्ची होशियारी है। आत्मा की जागृति जिसमें न हो वह तो बेहोशी है, – उसे होशियारी कौन कहे? जिसने कभी समुद्र नहीं देखा वही कूप-मेंढक की तरह गंदे पानी के छोटे गड्ढे को महान समझता है, किन्तु अगाध स्वच्छ समुद्र के सामने गंदे पानी के गड्ढे की क्या गिनती? वैसे आनन्द से भरा स्वच्छ अगाध चैतन्यसमुद्र जिसने नहीं देखा वही कुज्ञान के अल्पविकास के

अभिमान में अटक जाता है, परन्तु सर्वज्ञस्वभाव से भरे हुए अगाध समुद्र के सामने उसके अल्पज्ञान का छोटे गड्ढे जितना भी मूल्य नहीं है।

इसप्रकार शरीर से लेकर कुज्ञान के अल्प उघाड़ तक के भाव में जिनको एकत्वबुद्धि है उन सभी ने जीवतत्त्व को नहीं पहचाना; जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप समझने में उनको भूल है। ऐसी भूल के कारण जीव अनादि से चार गति में रूलता हुआ अनंत दुःख भोग रहा है। – जिनका वर्णन सुनने से भी दिल कंपने लगे – ऐसे दुःखों का थोड़ा सा कथन पहली ढाल में किया। हे भाई ! ऐसे दुःखों से छूटने के लिये, वीतराग विज्ञान के द्वारा आत्मा का सच्चा स्वरूप समझो और अपनी मिथ्यात्वरूप भूल को दूर करो – ऐसी श्री गुरु की शिक्षा है।

आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है; उसमें अतिरेक (अतिव्याप्ति) करके जो परको भी उसमें मिलाता है (अर्थात् शरीरादि अजीव को भी जीव मानता है) उसकी मान्यता विपरीत है – मिथ्या है। ज्ञान जिसकी चाल है, ज्ञान जिसका निजरूप है, ज्ञान जिसका भाव है, ज्ञान जिसकी संपदा है – ऐसे आत्मा में किसी भी परपदार्थ को अपना मानना वह आत्मा की अतिव्याप्ति रूप मिथ्याश्रद्धा है – वह परद्रव्य के भावों को अपने में मिलाना चाहता है। जहाँ ऐसा मिथ्यात्व हो वहाँ किसी भी तरह का धर्म या सुख नहीं होता। आत्मा ज्ञानानन्द है – उसके वेदन के बिना धर्म कैसा? और सुख कैसा? शरीरादि की क्रियाओं से धर्म हो यह मान्यता भूल से भरी हुई है; क्योंकि शरीरादि संयोग में आत्मा नहीं है, संयोग से आत्मा को दुःख-सुख नहीं है; अतः संयोग से भिन्न जीव को पहचानना चाहिए। इसप्रकार जीव-अजीव का यथार्थ स्वरूप जानकर भेदज्ञान करने से मिथ्यात्व मिट जाता है और जीव का अपूर्व हित प्रगट होता है।

अरे, जैनपरम्परा में आकर के भी जीव ने यदि अजीव से भिन्न अपनी पहचान न की तो उसको क्या लाभ? जीव-अजीव की भिन्नता

को जाने बिना सच्चा जैनत्व नहीं होता, अतः दुःख मिटता नहीं और सुख होता नहीं। कोई जीव बाह्य में शुभराग से भले त्यागी-दिगम्बर साधु भी हो जाय; परन्तु अन्तर में यदि ऐसा मानता हो कि – ‘यह देहादि की क्रियाएँ मेरी हैं, यह शुभराग है वह मोक्ष का साधन है’ – तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, जिनभगवान उसको जैन नहीं कहते, – साधुपने की तो बात ही क्या? अरे भाई! जो देह की क्रिया है वह तो जड़ की क्रिया है, उसका कर्ता तुम कैसे हो गये? यदि तुम जड़ के कर्ता बनोगे तो तुम भी जड़ हो जाओगे, क्योंकि जड़ ही जड़ का कर्ता होता है। रागादि को तो किसी अपेक्षा से आत्मा की क्रिया कह भी सकते हैं; क्योंकि वह आत्मा की पर्याय में है; परन्तु भाषा वगैरह तो व्यवहार से भी आत्मा की पर्याय नहीं है, वह तो जड़ की पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जो अपने को जड़ पर्याय का कर्ता मानता है उसको जड़ से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है।

जैसे परद्रव्य आत्मा के नहीं है और परद्रव्य के काम आत्मा नहीं करता, वैसे परद्रव्य भी आत्मा का भला-बुरा नहीं करते, क्योंकि पदार्थ स्वयं इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं। यदि पदार्थ ही इष्ट या अनिष्ट हो तब तो, जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभी को इष्टरूप ही होना चाहिए और जो पदार्थ अनिष्ट रूप हो वह सभी को अनिष्टरूप लगना चाहिए; परन्तु ऐसा तो नहीं होता। जीव स्वयं ही कल्पना करके किसी पदार्थ को इष्ट और किसी को अनिष्ट मानता है; वह उसकी कल्पना असत्य है।

जिनको उपयोगस्वरूप जीव वस्तु का अनुभव नहीं है वे अनेक प्रकार से कहीं-न-कहीं मिथ्या अभिप्राय करते हैं। कहीं बाह्य संयोग में, कहीं देह की क्रिया में, भाषा में या आगे चलकर राग में आत्मा का स्वरूप मानकर रुक जाते हैं, परन्तु उन सभी से भिन्न शुद्ध उपयोगरूप अपने को वे नहीं जानते। शुद्ध जीव स्वभाव में राग का भी कार्य नहीं, तब फिर जड़ का कार्य उसमें कहाँ से होगा? जो आत्मा का स्वरूप नहीं है उसको आत्मा का स्वरूप मान लेना वह स्वतत्त्व की बड़ी भूल है; अपने को

आप भूलके हैरान हो गया' – जीव स्वयं अपना स्वरूप भूलकर महा दुःखी होता है। अतः आचार्यदेव कहते हैं कि उस भूल को तुम छोड़ो, और शुद्ध जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करो।

इस गाथा में जीवतत्त्व में अज्ञानी की भूल दिखलाई; आगे, अजीव एवं आस्रवादि तत्त्वों के सम्बन्ध में भी अज्ञानी जीव कैसी भूल करते हैं – यह दिखायेंगे ॥४॥

अजीव और आस्रव के संबंध में भूल

उपयोगलक्षणरूप जीव का सच्चा स्वरूप न पहचानने से सातों तत्त्वों के ज्ञान में जीव को पहचान कराकर उसको छोड़ने का यह उपदेश है –

(गाथा-५)

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।

रागादि प्रगट ये दुःखदैन, तिनहीको सेवत गिनत चैन ॥४॥

इस गाथा में जीव की दो भूल दिखायी हैं – एक तो देह में आत्मबुद्धि, और दूसरी राग में आत्मबुद्धि, वास्तव में वह स्वयं चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य है, उसे न जन्म है, न मरण, ऐसा अपने को न पहचानकर अज्ञानी जीव शरीर की उत्पत्ति होने से अपनी ही उत्पत्ति मानता है और शरीर का नाश होने पर अपना ही नाश मानता है; इसप्रकार अपने को देहरूप ही मानता है।

शरीर के उपरान्त वह राग को भी अपना स्वरूप मानता है। आत्मा का स्वभाव तो शांत निराकुल ज्ञानस्वरूप है, और रागादि भाव प्रगटरूप से दुःखदायक है। आकुलतारूप हैं। तो भी जीव उसको सुखरूप मानकर उनका सेवन करते हैं। इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने को अजीव से तथा आस्रवों से भिन्न नहीं पहचानता, यह उसकी भूल है।

जिसने आत्मा को देहरूप माना उसने अपने को अजीव माना। शरीर और आत्मा को एक-दूसरे में मिलाकर दोनों को एक मानता है; ऐसी

जीव-अजीव की भूल जीव अनादि से कर रहा है; जीव और अजीव दोनों अत्यन्त भिन्न होने पर भी वह उनको भिन्न नहीं जानता। देह तो संयोग वस्तु है, उसका वियोग अवश्य होगा, हे जीव ! इस देह का संयोग होने के पहले तेरा अस्तित्व था और देह के वियोग के बाद भी तेरा अस्तित्व रहेगा; ऐसे तेरे त्रिकाली अस्तित्व का विचार कर तो क्षणिक देह में तुझे आत्मबुद्धि नहीं रहेगी। जन्म-मरण तो देह के संयोग-वियोग की अपेक्षा से हैं, जीव स्वयं अपने उपयोगस्वरूप से नित्य टिकनेवाला है, उसका न जन्म है, न मरण। तुम नित्य और देह क्षणभंगुर, तुम चेतनसत्ता और देह जड़, इन दोनों में एकता कैसी? दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, दोनों के बीच में 'अत्यन्त अभाव' रूपी बड़ा पहाड़ खड़ा है।

जीव और शरीर अत्यन्त जुड़े हैं, एवं प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि वे भिन्न हो रहे हैं – तभी तो जीव के चले जाने पर देह को जला देते हैं। ऐसी भिन्नता होने पर भी जीव अपने को देह से भिन्न नहीं पहचानता।

'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में पं. टोडरमलजी कहते हैं कि जीव मिथ्यात्व के कारण अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्वश्रद्धान करता है। वस्तुस्थिति जैसी है वैसी नहीं मानता, परन्तु जैसी नहीं है वैसी वह मानता है। अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारक, अनादिनिधनरूप आत्मा आप स्वयं है; तथा मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों से रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है ऐसा शरीरादि पुद्गल है, – वे अपने से अन्य हैं; इन दोनों के (आत्मा और शरीर के) संयोगरूप अनेक प्रकार की मनुष्य-तिर्यचादि पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों में मूढ़ जीव अहंबुद्धि धारण कर रहा है, उनमें स्व-पर का भेद नहीं जानता। जो पर्याय प्राप्त हुई उसी रूप अपने को मान लेता है भेदज्ञान नहीं करता। उस पर्याय में जो ज्ञानादिक गुण हैं वह तो अपना स्वभाव है, जो रागादिक भाव है वह उपाधिरूप परभाव हैं, और जो वर्णादिक है वह अपना भाव नहीं किन्तु पुद्गल के गुण हैं, – ऐसा पृथक्करण न करके वह जीव उनमें

स्वभाव-परभाव का, या जीव-अजीव का विवेक वह नहीं करता। – ऐसा मिथ्यात्वभाव जीव को अनादि से चल रहा है, कभी उसमें तीव्रता और कभी मंदता होती है, परन्तु आत्मज्ञान के बिना उसका भान नहीं होता और जीव का दुःख नहीं मिटता। जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा ही पहचानकर श्रद्धान करे तभी जीव का मिथ्याभाव छूटे व दुःख मिटे। जैसे कोई जीव मोहमुग्ध होकर मुर्दे को जीवंत समझ ले, या उसको जिलाना चाहे, तो इससे वह स्वयं दुःखी ही होगा; मुर्दा जीवित नहीं होगा और उसका दुःख मिटेगा नहीं; किन्तु उस मृतक को मृतक ही जानना और उसको जिलाया नहीं जा सकता – ऐसा समझना यही दुःख दूर होने का उपाय है। जैसे जो जीव मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा मानकर अन्यथा परिणमन कराना चाहे वह स्वयं दुःखी ही होगा; उसकी मिथ्यामान्यता अनुसार पदार्थ परिणमे नहीं और उसका दुःख मिटे नहीं। किन्तु पदार्थ को यथार्थ जानना (स्वको स्वरूप और परको पररूप जानना) तथा वे परपदार्थ मेरे परिणमाये अन्यरूप परिणमनेवाले नहीं हैं – ऐसा मानना, यही दुःख दूर होने का उपाय है। भ्रमणा के द्वारा उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह भ्रमणा के मेटने से ही दूर होता है। इसप्रकार सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान ही दुःख मेटने का सच्चा उपाय है।

जीव-अजीव की सम्यक् श्रद्धा व उनका भेदज्ञान होनेपर शरीर में अहंबुद्धि मिट जाती है और अपने अनादि-अनन्त चैतन्यद्रव्य में ही अहंबुद्धि होती है, अतः उसको मृत्यु का भय नहीं रहता और ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगट करने से सिद्धपद प्रगट होकर जन्म-मरणादि सर्व दुःखों का अभाव हो जाता है।

अज्ञानी को देह ही दिखता है, मैं देह ही हूँ – ऐसी बुद्धि होने से उसे ऐसा लगता है कि भोजन के बिना मैं जी नहीं सकता। परन्तु अरे भाई! तुम तो आत्मा हो, शरीर तो तुम नहीं हो। यह तो जैनबालपोथी (जिसकी एक लाख प्रति छप चुकी हैं) के पहले ही पाठ में सिखाया है कि 'मैं जीव

हूँ' और 'शरीर अजीव है।' जीव और शरीर भिन्न हैं। चेतना जिसका जीवन है – ऐसा आत्मा अनाज के बिना ही जी रहा है। आत्मा यदि अनाज खाये तो मर जाय; क्योंकि जड़ अनाज का यदि आत्मा में प्रवेश हो जाये तो चेतनरूप से उसका अस्तित्व ही न रहे, अनाजरूप से वह जड़ हो जाय; अतः मर जाय। जड़ अनाज के बिना ही उससे भिन्न अपने चेतन अस्तित्व में आत्मा जीवित हैं।

देखो तो सही, दृष्टि-दृष्टि में कितना बड़ा अन्तर है। अज्ञानी तो कहते हैं कि खाना खाने के बिना आत्मा नहीं जी सकता, तब ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा खाना खाय तो मर जाय। भाई! तुम तो चेतन हो, तुम्हारी चेतना से ही तुम जी रहे हो; तुम्हें तुम्हारा चैतन्यजीवन जीने के लिये जड़ अन्न-पान की अपेक्षा नहीं है। तुझमें जब यह शरीर भी नहीं है तब आहार कैसा? अमूर्त आत्मा में मूर्त पदार्थ का प्रवेश नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह त्रिकाल है, असंयोगी है; तो भी अज्ञानी देहबुद्धि होने के कारण शरीर के संयोग-वियोग से आत्मा की उत्पत्ति और विनाश होने का मानते हैं। शरीर छूट जाने के समय मानों अपना ही नाश हो जाता हो – ऐसा उन्हें लगता है (इसी का नाम है मृत्यु का भय, जो सम्यग्दृष्टि को कदापि नहीं होता) हे भाई! देह की गुफा के अन्दर ऊण्डे-ऊण्डे (अर्थात् देह से भिन्न) आत्मा है उसको अपने अनुभव में ले लो, तब तुमको अपनी नित्यता दिखाई देगी, आत्मा का अमरपना तुमको दिखेगा और मृत्यु का भय भी मिट जायेगा; क्योंकि मरण आत्मा को है ही नहीं। मरण का जाननेवाला स्वयं कभी नहीं मरता। देह आया और देह गया, उन दोनों अवस्था को जीव ने जानी, परन्तु जानने वाला स्वयं न तो नया आया है और न वह अपने से बाहर कभी गया है; जाननेवाला तो सदैव अपने जाननेवाले स्वरूप में ही आवे या जावे अथवा उसे वह जाने, परन्तु वह स्वयं देहरूप नहीं होता।

अज्ञानी कहता है कि हमें देह से भिन्न आत्मा नहीं दीखता।

नहीं नेत्रों से दीखता, नहीं दीखता रूप;

और कोई अनुभव नहीं, कैसा जीवस्वरूप?(४५)

यातें देह ही आत्मा, अथवा इन्द्रिय-प्राण;

कैसे जुदा मानना, भासे न भिन्न निशान।(४६)

ऐसी अज्ञानी की आशंका होने पर श्रीगुरु उनको समझाते हैं कि – हे भाई! तुझे देहबुद्धि के कारण ही ऐसा लगता है, वास्तव में तो आत्मा देह से अत्यन्त भिन्न ही है –

भासे देहाभ्याससे आत्मा देहस्वरूप;

पर वे दोनों भिन्न है अपने-अपने रूप।(४७)

घट-पट आदि जान तू यातें उसको मान,

पर जाननहारा जो स्वयं उसको क्यों नहीं मान? (४८)

जड़ चेतनका सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभाव;

एक नहीं होते कभी, तीनोंकाल द्वय-भाव। (४९)

(श्रीमद् राजचन्द्रजी)

– ऐसे सर्व प्रकार से देह और आत्मा की भिन्नता है, उन दोनों की एकता कभी नहीं होती। लक्षणभेद, युक्ति, आगम आदि अनेक प्रकार से आत्मा और देह की भिन्नता ज्ञानियों ने स्पष्ट समझाई है; – अब किसको भेदज्ञान नहीं होगा? – जड़ देह को आत्मा कौन मानेगा?

भाई! देह तुम नहीं हो; देह तो तुमसे विपरीत तत्त्व है। तुम जीव, और देह अजीव; तुम चेतन और वह जड़; तुम शाश्वत, और देह क्षणभंगुर; तुम अरूपी-इन्द्रियातीत, और देह तो रूपा-इन्द्रियगम्य; – ऐसी स्पष्ट भिन्नता है। ज्ञानी अपने को देह से अत्यन्त भिन्न अनुभवते हैं। आत्मा को आत्मा का वियोग कभी नहीं होता; देह का वियोग होता है क्योंकि वह तो अभी भी जुदा ही है। शरीर के वियोग से आत्मा का तो वियोग

नहीं होता; सिद्ध भगवंत सदैव शरीर के बिना ही चैतन्यप्राण से जी रहे हैं, वैसे सब जीव शरीर के बिना ही अपने चैतन्यभाव से जी रहे हैं। जो चेतना से जीवे उसी का नाम जीव।

कोई बड़ा बादशाह तीव्र पाप करके मर जाय, उसका शरीर तो अभी यहाँ मुलायम बिछाने में पड़ा हो और आत्मा नरक में पहुँच जाय; वहाँ अपने किये हुए पापों की घोर वेदना का वेदन करता हो। यह शरीर उसका कहाँ था? यदि शरीर उसका हो तब तो नरक में पड़ा हुआ वह जीव सुखी होना चाहिए; क्योंकि शरीर तो मखमल के मुलायम गद्दे में पड़ा है। अरे, यहाँ शरीर भले मखमल में पड़ा हो; परन्तु वह आत्मा तो नरक में घोर दुःखों का वेदन कर रहा है।

कोई सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा चक्रवर्ती भी हो, सोलह हजार देव उनकी सेवा करते हों, तो भी वे जानते हैं कि चक्रवर्तीपने की यह रिद्धि हमारी नहीं है, इस रिद्धि में कहीं हम नहीं हैं, हम तो हमारी अनन्त गुणसम्पन्न चैतन्य रिद्धि में है, वही रिद्धि हमारी है।

यह बाहरी आँख-कान आदि जो अवयव हैं सो आत्मा नहीं है, आत्मा के तो अपने ज्ञान-दर्शन-आनन्द अनादि अनंत अवयव हैं, जो कि आत्मा से कभी अलग नहीं होते। ऐसे निजस्वरूप को जाने बिना अज्ञानी अपने को देहरूप ही समझ रहा है; उसके स्वप्न में भी 'शरीर ही मैं हूँ' – ऐसा रटन चलता है; चेतन भगवान अपने को जड़ अचेतन मानकर सारी दिशा ही भूल गया है। अरे ! यह कैसा भ्रम कि स्वयं अपने आपको ही खो दिया ! वह पर को अपना मानकर बन्दर की तरह दुःखी हो रहा है। एक बन्दर था; वह जिस वृक्ष पर बैठता था उस वृक्ष को वह अपना मान बैठा; जब पवन की झकोर और उस वृक्ष के सूखे पत्ते गिरने लगे; तब वह बन्दर दुःखी होने लगा कि अरे! मेरे ये पत्ते खिरे जाते हैं। – कैसा भ्रम! जैसे मोही जीव अज्ञान से देहादिक संयोग को अपना मानते हैं और संयोग दूर होने पर दुःखी होते हैं कि – अरे, मेरे ये सब चले जाते हैं;

परन्तु हे भाई ये तुम्हारे थे ही कब? तुम व्यर्थ ही उनको अपना मानकर दुःखी हो, अतः इस मिथ्या मान्यता को छोड़ो और भिन्न आत्मा को पहिचानो, तभी तुम्हारा दुःख मिटेगा।

अज्ञान से जीव अपने को देहरूप मानता है, वैसे रागादिभाव प्रगट दुःखदायक होने पर भी अज्ञान से जीव उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन कर रहा है; आस्रव जीव के चेतनस्वभाव से भिन्न होने पर भी उनको वह अपना स्वरूप मानकर उसका सेवन कर रहा है शुभराग से मेरे को धर्म का कुछ लाभ मिलेगा, अथवा वह मोक्ष का कारण होगा, – ऐसा मानता है उसने आस्रवतत्त्व को आस्रवरूप न जानकर संवरनिर्जरारूप माना; आस्रव दुःखरूप होने पर भी उन्हें हितरूप माना; वह अधर्मरूप होने पर भी उसको धर्म का साधन माना; वह बंध भाव होने पर उसको मोक्ष का साधन माना; वह विपदा होने पर भी उससे आत्म संपदा प्राप्त करने वाला माना, इस प्रकार अज्ञानी के सभी तत्त्वों में भूल है। जो दुःख देनेवाले भावों को सुख देनेवाला मानकर के उनका सेवन करे वह दुःख से कैसे छूटेगा? अशुभराग एवं शुभराग दोनों में दुःख हैं।

प्रश्न :- शुभ से स्वर्ग तो मिलता है?

उत्तर :- अरे भाई! स्वर्ग मिला उससे आत्मा को क्या मिला? उस स्वर्ग की सामग्री में जिसको सुख की कल्पना होती है और उस विषय-सामग्री से रहित अतीन्द्रिय आत्मसुख जिसके लक्ष्य में नहीं आता, वह मिथ्यादृष्टि है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी प्रवचनसार में कहते हैं कि – पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा अत्यन्त दुःखी वे जीव मृगतृष्णा के जल की भाँति विषयों में से सुख चाहते हैं; – जो कभी नहीं मिल सकता। अतः पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवों की भाँति विषयों को चाहते हुए क्लेश पाते हैं। पुण्य भी पाप की भाँति दुःख का साधन है। शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) दोनों अनात्मभाव हैं, दोनों शुद्धोपयोग से विपरीत हैं। इसप्रकार पुण्य-पाप दोनों में समानता जो नहीं मानते हैं और पुण्य फल में सुख

मानकर उसका मोह करते हैं वे जीव मिथ्यादृष्टिपने से संसार में ही रुलते हुए दुःख का ही अनुभव करते हैं। (देखो गाथा ७५-७६-७७)।

शांत-आनन्दस्वरूप आत्मा है, उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के भाव आकुलतारूप है। जो शुभराग को चेतनरूप या हितरूप मानकर उनका सेवन करता है वह वीतरागी-आत्मा का अनादर करता है। अमृतस्वरूप आत्मा के वेदन में परम शांति है, राग के वेदन में थोड़ी भी शांति नहीं है, उसमें तो आकुलता ही है, प्रगटरूप से वह दुःख देनेवाला है; परन्तु अज्ञानी को उसमें मौज (आनन्द) दीखता है, क्योंकि आत्मा की सच्ची शांति उसने कभी नहीं देखी।

लोग रमत-गमत में जो आनन्द मानते हैं वह तो आकुलता है; जीव को भ्रम से उसमें सुख लगता है। अशुभ में तो दुःख है और शुभ में भी दुःख है, शुभ-अशुभ दोनों से पार चैतन्यभाव ही सुख है और वही मोक्षमार्ग है। रागादि भाव तो ज्ञान से रहित है, ज्ञान से वह विपरीत है, ज्ञानी को उसमें चैन नहीं, उसमें सुखबुद्धि नहीं; अज्ञानी तो राग में ही चैन मानकर उसमें रुक रहा है, अतः उससे भिन्न अपने स्वरूप को वह कैसे देखे? देह में और राग में ही अपनेपन की बुद्धि से जो प्रतिबद्ध हो गया वह उनसे भिन्न अपने अन्तर में चैतन्यस्वरूप आत्मा को कैसे ढूँढ़ेगा? कैसे उसका अनुभव करेगा? **‘कैसे रूप लखे आपनो?’** – निजरूप तो देह और राग दोनों से पार है; ऐसे निजरूप को देहबुद्धिवाला या रागबुद्धिवाला जीव कहाँ देख सकता है?

जैसे पाप मोक्ष का कारण नहीं वैसे पुण्य भी मोक्ष का कारण नहीं, बन्ध का ही कारण है, तो भी अज्ञानी उसको मोक्ष का कारण जानकर बड़े उत्साह से उसका सेवन करते हैं। भाई! चैतन्य का उत्साह छोड़कर के तेरा उत्साह राग में चला गया! अरे, धन-पुत्र आदि की ममता के पाप में जीव सुख मानता है, उसमें राग करके मजा समझता है, परन्तु हे जीव! वह तो आकुलता की ज्वाला है, उसमें तेरी शांति कहाँ है? शांति और

आनन्द ये तो तेरे आत्मा में से ही आता है, आत्मा में ही सुख भरा है; बाहर की अनुकूलता का होना – वह तो सुख नहीं है; बाह्य की ओर झुकनेवाली रागवृत्ति में भी सुख नहीं है। देखो, यहाँ (छहढाला की इस गाथा में) ऐसा नहीं कहा कि – अशुभराग ही अकेला दुःखदायक है, परन्तु ('रागादि दुःखदैन') शुभ या अशुभ सभी रागादिक भाव को दुःख देनेवाला कहा है। पुण्य राग भी दुःखदायक है, तो भी अज्ञानी उस पुण्य के रस के पीछे चैतन्य के सच्चे रस को (अतीन्द्रिय-सुख को) भूल जाते हैं। सर्वज्ञ भगवान ने सात तत्त्वों के कथन में पुण्य-पाप दोनों को आस्रवतत्त्व में गिनाया है, उनको संवर में नहीं गिनाये। अतः हे जीव! तुम अपने शुद्ध आत्मा को आस्रवों से भिन्न जानो, तभी सात तत्त्व की तुम्हारी भूल मिटेगी, और तुम्हें सुख होगा।

'मैं ज्ञान हूँ' ऐसे ज्ञान का सेवन-अनुभव सुखरूप है; ज्ञान से विरुद्ध ऐसे जो रागादिक भाव-उनका सेवन दुःखरूप है। पाप के फल भोगने में तो जीवों को दुःख लगता है, किन्तु पुण्य के फल भोगने में भी आकुलता और दुःख ही है। पुण्य के फल में भी अनाकुल सुख नहीं है; अनाकुल सुख तो आत्मा के अनुभव में ही है। 'आत्म को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये' – ऐसा तीसरी ढाल में कहेंगे, और उस सुख के उपायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कथन करेंगे। वहाँ 'शिवमग लाग्यो चाहिये' ऐसा कहेंगे, परन्तु ऐसा नहीं कहेंगे कि पुण्य में सुख है अतः पुण्य के पीछे लाग्यो रहिये। देखो तो सही, यह छहढाला शास्त्र छोटा होने पर भी कितनी स्पष्ट बात समझाई है! बहुत अच्छे ढंग से वीतरागविज्ञान समझाया है !

भाई, तू राग में सुख मानकर उसमें रुका इससे तेरे सारे चैतन्यस्वभाव को तू भुला बैठा; अपने मुक्तस्वरूप को खोकर तू बन्ध के कारण में फँस गया।

प्रश्न :- क्या वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी राग भी बन्ध का कारण है?

उत्तर :- हाँ; भैया! तुम यह सोचो तो सही कि – जब तुम्हें केवलज्ञान व मोक्ष पाना होगा तब तुम उस राग को साथ में रखकरके मोक्ष पावोगे? – कि उसको छोड़के मोक्ष पावोगे? राग को छोड़े बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता; अतः यदि अभी से राग को छोड़नेयोग्य तुम नहीं मानोगे और उसको हितरूप समझोगे, तो उसको तुम कैसे छोड़ोगे? राग तो बन्ध का ही कारण होता है, न कि मोक्ष का; – उस राग का निमित्त चाहे जो हो, भले साक्षात् वीतरागदेव उसका निमित्त हो; तो भी इससे बन्ध का कारण मिटकर वह मोक्ष का कारण नहीं हो जाता, वह तो बन्ध का ही कारण होता है, ऐसा शुभराग हो यह अलग बात है, परन्तु उसको मोक्ष का कारण मान लेने में तो राग के साथ मिथ्यात्व का सेवन आ जाता है, यह बड़ा दोष है। हे जीव! राग सुख है कि दुःख? राग तो दुःख है, – तब यह मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता। सुख तो वीतराग-विज्ञान है और वही मोक्षसुख का कारण है। राग को जिसने मोक्ष का कारण माना उसने आस्रव को आस्रवरूप न पहचाना, आस्रवरहित वीतरागी चैतन्य स्वभाव को भी उसने न पहचाना, रागरहित मोक्ष के कारण को (-संवरनिर्जरा को भी उसने न पहचाना – इसप्रकार सभी तत्त्वों में उसकी गलती हुई।

राग में उपयोग को जोड़ना सो बन्धन और दुःख है। स्व-विषय में (शुद्ध आत्मा में) उपयोग को जोड़ना सो मुक्ति और सुख है। राग में रक्त जीव कर्मों से बन्धता है, और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है – ऐसा सिद्धान्त है; अतः हे जीव! शुभ-अशुभ दोनों राग से अपने उपयोग को भिन्न जानकर उनसे तुम विरक्त हो; किसी भी राग के साथ उपयोग को एक मत करो।

मूढ़ता से जीव को सोने-रूपये के ढेर में सुख दिखता है, परन्तु हे भाई! वह तो जड़ का ढेर है; और उस तरफ का तेरा जो ममत्वभाव है वह भी पाप का ढेर है; उसमें से सुख कैसे आयेगा? उसी तरह शुभराग में भी सुख

नहीं है। उपयोग को अन्तर स्वभाव में लगाकर राग-द्वेषरहित हो तभी तेरे को सुख होगा। रागादिभाव तेरे स्वभाव की चीज नहीं हैं, वे तो तुझे दुःख देनेवाले हैं – ऐसा समझकर उनका सेवन छोड़, और राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप का सेवन कर; इससे तेरा दुःख मिटेगा और तुझे सुख होगा; – यही वीतरागी संतों का हितोपदेश है।

बंध और संवर तत्त्व की पहचान में भूल

मिथ्यात्व के कारण तत्त्व की विपरीत श्रद्धा करके जीव दुःखी होता हुआ चार गति में भ्रमण कर रहा है; तत्त्व की श्रद्धा में उसकी क्या भूल होती है और सत्य तत्त्वस्वरूप कैसा है – यह दिखाकर जीव की भूल छुड़ाते हैं। जीव-अजीव और आस्रव के संबंध में जीव की क्या भूल है यह दिखाया; अब बंध और संवरतत्त्व के संबंध में क्या भूल है – यह कहते हैं :-

(गाथा-६)

शुभ अशुभ बंध के फल मंझार, रति-अरति करै निजपद विसार।

आत्महित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान ॥६॥

अज्ञानी जीव अपना चेतनरूप जो निजपद है उसे भूलकर, शुभबंध अच्छा व अशुभबंध बुरा – ऐसा मानता है, और उस शुभ-अशुभबंध के फल में राग-द्वेष करता है; शुभ-अशुभ दोनों बन्धन से रहित अपना शुद्धस्वरूप है उसको वह नहीं पहचानता और बंधभाव को अपना स्वरूप मानता है, – यह बंधतत्त्व की भूल है।

तदुपरांत, आत्मा के हित के कारण ऐसे जो वीतरागता व सम्यग्ज्ञान हैं, उन्हें वह कष्टदायक समझता है। सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन भी होता ही है; अतः सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और रागरहित चारित्र – ऐसा संवरभाव आत्मा को परम सुख देनेवाला है, परन्तु अज्ञानी उसमें कष्ट समझता है; इसप्रकार संवरतत्त्व को भी वह नहीं पहचानता। अहा,

रत्नत्रयरूप वीतरागविज्ञान की साधना में कितना आनंद है? – आत्मा का कैसा सुख है? उसको धर्मी ही जानते हैं।

चेतनमय निजपद को भूला हुआ अज्ञानी प्राणी क्या करता है – उसकी बात चल रही है। आत्मा स्वयं चैतन्य निधान आनन्द का समुद्र है, उसके सामने देखते ही समभावी आनन्द की लहरें उठती हैं; परन्तु उसको भूलकर अज्ञानी राग-द्वेष पुण्य-पाप का सेवन कर रहा है। शुभ एवं अशुभ दोनों भाव बन्ध के ही कारण हैं, तो भी अज्ञानी शुभ को बन्धरूप न जानकर, उसको मोक्ष का कारण मानकर उनका सेवन करता है। सम्यग्दर्शन जो कि स्वयं परम आनन्दरूप है और मोक्ष का कारण है उसकी महत्ता अज्ञानी को नहीं दिखती और शुभराग की महत्ता दिखती है, इसकारण वह राग के फल में ही रचा-पचा रहता है; वीतरागी ज्ञान के अनुभव में जो आनन्द है उसकी उसे खबर भी नहीं है। शास्त्रकार समझाते हैं कि हे भाई! शुभ-अशुभ सभी आस्रव तुझे दुःख के ही कारण हैं अतः उनका सेवन छोड़ो; और वीतरागविज्ञानरूप संवर ही सुख का कारण है, अतः उसका सेवन करो।

शुभ के फल में मुझे सुख और अशुभ के फल में मुझे दुःख, अनुकूलता आने पर मैं सुखी हो गया और प्रतिकूलता आने पर मैं दुःखी हो गया – इसप्रकार शुभ-अशुभ में अज्ञानी अंतर-जुदाई देखते हैं, किन्तु वास्तव में वे दोनों ही दुःखरूप और बंधनरूप हैं, अपना सच्चा स्वरूप उन दोनों से अलग है – उसे वह नहीं पहचानते। चेतनभाव और बंधभाव दोनों की जाति ही भिन्न है। ज्ञान-वैराग्यरूप जो अबन्धभाव हैं; वही सुख है। रागरूप जितने भी बन्धभाव हैं वे सबके सब दुःख ही हैं।

संवरधर्म कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो या विराग ज्ञान अथवा वीतरागविज्ञान कहो, सो अबन्धभाव है, वह आत्मा का महा आनंदरूप है, हितरूप है, किन्तु इसके स्थान में दैहिक कष्ट को अज्ञानी लोग चारित्र

मानते हैं। अरे भाई, चारित्र में कष्ट नहीं है, वह तो महा आनन्दरूप जगपूज्य पद है। आत्मा का चारित्रधर्म देह की क्रिया में नहीं रहता, चारित्र राग में भी नहीं रहता, चारित्र तो चेतन में एकाग्रतारूप है, उसमें दुःख या कष्ट कैसा?

अरे, अज्ञानी के सभी तत्त्वों में गलती है। वह बंधन में सुख मानता है, संवर में दुःख मानता है। अजीव को जीव मानता है, जीव को देहरूप मानता है, – ऐसी अत्यंत विपरीत मान्यता करता है। यह विपरीत मान्यता महा दुःखरूप है, उनसे छूटने के लिये यह उपदेश है।

जिनेन्द्र भगवान ने आठों ही कर्म के फल को विषवृक्ष का फल कहा है, उनमें से किसी शुभकर्म को भी बाकी नहीं रक्खा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा अमृत की वेली है, उसके अनुभव में आनन्द का फल आता है और उसके विपरीत शुभ-अशुभ सभी भावों का फल विषरूप है। जिसे पुण्य की रुचि है उसे जड़ की रुचि है, उसे आत्मा की रुचि नहीं है। प्रभो! तू मुक्तस्वरूप आत्मा, बन्धन से रहित तेरा स्वभाव और उसको भूलकर तू बन्धन का प्रेम करके उसमें फँस गया, यह तेरे को शोभा नहीं देता। वह तो दुःख है, कलंक है। बन्धन में, कोई बन्धन अच्छा और कोई बुरा-ऐसे दो भेद नहीं हैं, एक भी बन्धन भला नहीं है; सर्व बन्धन से रहित मुक्ति ही भली है – अच्छी है, उसमें ही सुख है।

प्रश्न :- शुभ के फल में तो धर्म के निमित्त की सामग्री मिलती है तो उसको भला क्यों न माना जाय?

उत्तर :- धर्म की दुर्लभता दिखाने के हेतु से धर्म के निमित्त को भी दुर्लभ कहा गया है, परन्तु वास्तव में तो वे शुभ-निमित्त भी आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा से बाह्य हैं; मात्र निमित्त का संयोग मिलने से धर्म की प्राप्ति नहीं हो जाती, उन संयोग के ही सामने देखा करे तबतक आत्मा को धर्म का लाभ नहीं होगा; जब संयोग से भिन्न निजस्वरूप की ओर देखें

तभी धर्म होगा। शुभ भी मेरे ज्ञान से भिन्न है – ऐसा जाने बिना अन्तर्मुख होगा कैसे? अरे, जो अपना स्वभाव नहीं है जो अपने मोक्ष को रोकनेवाला है, ऐसे शुभराग में उत्साह क्यों? धर्मी को चैतन्य के अनुभव का उत्साह है, राग का या पुण्य का उत्साह उसको नहीं है। कोई कहे कि 'आपको बड़ा पुण्यबन्ध हुआ' – तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! हम तो चैतन्य, उसमें बन्धन कैसा? हम तो सभी बन्धन से छूटकर मुक्त होना चाहते हैं। बन्धन से हमारी शोभा नहीं है; किन्तु शरम है। बन्धनभाव में हम नहीं हैं, उसमें हमारा उल्लास नहीं है; हम तो अपने वीतरागी ज्ञानरूप अबन्धभाव में हैं, उसी में हमारा उत्साह व प्रेम है।

भाई! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो एकबार ऐसी पहचान करो; बाहरी सब बात भूल जाओ और अपने निजस्वरूप को पहचानो। शुभ-पुण्य अच्छा और अशुभ-पाप बुरा, अतएव उसके फलरूप अनुकूल सामग्री में सुख और प्रतिकूल सामग्री में दुःख – ऐसी अज्ञानी की मान्यता होने से वह सर्वत्र राग-द्वेष करके दुःखी होता है; वीतरागी ज्ञान की शांति उसे कहीं भी नहीं मिलती, क्योंकि बन्धनरहित ज्ञानमय निजपद का सेवन वह नहीं करता, और न उसको पहचानता है। ज्ञानस्वरूप की पहचान के लिये यह उपदेश है।

अनुकूल संयोग में जो सुख मानेगा वह उसके कारणरूप शुभराग में भी सुख मानेगा, अतएव राग से रहित चैतन्यसुख का अनुभव उसे नहीं होगा। संयोग से व राग से भिन्न निजपद को भूला – यह जीव की बड़ी भूल है। अरे! संयोग में या राग में तुम्हें सुख लगता है, किन्तु उसमें सुख ही नहीं। सुख राग में होता है? कि वीतरागता में? वीतरागता में ही सुख है, उसको तुमने कभी नहीं जाना। जिसने राग को या पुण्यबन्ध को अच्छा माना उसको मोक्ष की श्रद्धा नहीं है। जिसको राग की रुचि है उसको मोक्ष की रुचि नहीं। मोक्ष तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, रागमय नहीं

है। ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा जिसको नहीं है उसको मोक्षादि सातों तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

अपना हित किससे है – इसका अज्ञानी को भान नहीं है, और आत्मा के लिये दुःखरूप बन्धभाव कैसा है इसका भी उसको भान नहीं है। वह तो अहितरूप बन्धभाव को (शुभराग को) हितरूप समझकर उसका सेवन कर रहा है और अपने को परम हितरूप ऐसे वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को कष्टरूप समझकर उनसे दूर भागता है। अरे, जीव दुःख को नहीं चाहते, किन्तु दुःख के कारणरूप मिथ्याभावों का दिन-रात सेवन करते हैं; जीव सुख को चाहते हैं, किन्तु उसके कारणरूप वीतरागविज्ञान का एक क्षण भी सेवन नहीं करते। यदि जीवादि नव पदार्थों का स्वरूप भले प्रकार पहचाने तो, कौन अपने को हितरूप है और कौन अपने को अहितरूप है – उसका ज्ञान होवे, और तब अहितकर भावों का सेवन छोड़कर हितरूप ऐसे वीतराग-विज्ञान का सेवन करे। हे भाई! चार गति में जो अनन्त दुःख तुमने भोगे उनसे यदि छूटना चाहते हो और मोक्षसुख का अनुभव करना चाहते तो मिथ्याश्रद्धा छोड़कर वीतराग-विज्ञान का सेवन करो। वाह! दुःख से छूटना कौन नहीं चाहेगा? दुःख से छूटकर आनन्द की प्राप्ति का यह अवसर मिला है, अतः हे जीव! तू प्रमादी मत होना।

मोह नींद में सोते जीव को जगाकर उसका निजपद दिखलाते हुए वीतरागी सन्त कहते हैं कि रे जीव! राग तेरा निजपद नहीं है, तेरा निजपद तो चैतन्यमय है। ऐसे अपने निजपद को विसार कर पुण्य में प्रीति मत कर। शुभराग की प्रीति से तो संसार मिलता है; जिसकी प्रीति से संसार मिले उसको कौन मुमुक्षु अच्छा कहेगा? जो जीव पुण्य को चाहता है उसको तो कुन्दकुन्दस्वामी ने परमार्थ से बाह्य कहा है –

परमार्थ बाहिर जीव जो जानें न हेतु मोक्ष का।

अज्ञान से वे पुण्य इच्छें हेतु जो संसार का॥(समयसार १५४)

प्रश्न :- तो क्या धर्मी को पुण्य नहीं होता?

उत्तर : - पुण्य हो भले, परन्तु धर्मी तो सर्व प्रसंग में अपने को ज्ञातादृष्टा स्वरूप ही जानते हैं, वह क्षणभर भी अपने निजपद को नहीं विसारते। पुण्य-पुण्य में है, निजपद निजपद में है, ऐसी दोनों की भिन्नता है। किसी भी प्रसंग में धर्मी जानते हैं कि मैं ज्ञानदर्शनमय हूँ, वही मेरा निजपद है। जब निजपद को सम्हालता हुआ चैतन्य जागृत हुआ तब कोई भी बाह्यसंयोग उसको रोकनेवाला नहीं; किसी की ताकत नहीं जो उसको रोके। राग से भिन्न चैतन्य का जो सम्यक् भान हुआ वह शुभ या अशुभ किसी भी समय चलित नहीं होता, निजपद के अतिरिक्त अन्य कोई परपद (परभाव) अपना नहीं दिखता; धर्मी का ऐसा भेदज्ञान मोक्ष का कारण है।

शुभ-अशुभ से रहित, पुण्य-पाप से रहित, अपने शुद्ध चैतन्यपद का भान-अनुभव तो सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ को भी होता है और ऐसे गृहस्थ को भी समन्तभद्र स्वामी ने मोक्षमार्गी कहा है। (गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो... निर्मोहो... इत्यादि) गृहस्थ को आत्मा में विशेष लीनता नहीं होती, मुनिवरों को चैतन्यस्वभाव के ज्ञान के उपरान्त विशेष लीनता होती है, वे तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में बहुत लवलीन रहते हैं; उन्हें पंच महाव्रत, नग्नता आदि मूल गुणों के पालन में कष्ट नहीं है, वे तो वीतराग भाव से महान सुखी हैं, चक्रवर्ती राजा से या इन्द्र से भी वे मुनिवर अधिक सुखी हैं; ज्ञान वैराग्य की उग्रता के कारण उन्हें बहुत संवर है और बहुत सुख है; किन्तु बाह्य अनुकूलता को ही सुख माननेवाला अज्ञानी ऐसा मानता है कि मुनि को बहुत कष्ट है, चारित्रदशा में बहुत कष्ट है। अरे, महा आनंदरूप मुनिदशा वह भी अज्ञानी को दुःखरूप कष्टदायक लगती है; क्योंकि निजघर का आनन्द उसने कभी देखा नहीं, उसने तो शरीर को और राग को ही देखा है; देह से व राग से पार अपना निजपद आनन्दमय है, ऐसे निजपद का निर्धार जीव ने कभी नहीं किया।

यहाँ 'आत्महित हेतु विरागज्ञान' ऐसा कहा है अर्थात् विराग-ज्ञान को हित का हेतु कहा है, राग को आत्मा के हित का हेतु नहीं कहा है। विराग-ज्ञान माने राग के अभावरूप ज्ञान, वही मोक्षमार्ग है, इसमें निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समा जाते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ही विराग हैं – राग रहित है। आत्मा की स्वरूप में स्थिरता होने पर राग का अभाव हो जाना उसको भगवान ने वैराग्य कहा है; उसमें तो सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है, उसमें दुःख या कष्ट का नाम भी नहीं है। जिसमें दुःख या कष्ट लगे वह तो आर्त्तध्यान है, वह धर्म नहीं है। धर्म में या तप में चारित्र में कष्ट नहीं होता, आनन्द होता है। जिसको दुःख ही दिखता है और आनन्द नहीं दिखता उसको अपने में धर्म हुआ ही नहीं, वीतरागविज्ञान उसे प्रगटा ही नहीं। धर्म को जो दुःखरूप या कष्टदायक मानते हैं उन्हें धर्म की अरुचि है, वे तो राग को सुखरूप-धर्म समझकर रुचिपूर्वक उसी का सेवन करते हैं। ऐसे विपरीत भाव के कारण ही संसार में जीव दुःखी हो रहे हैं।

अरे, वीतरागता में दुःख कैसा? दुःख तो राग में होता है। वीतरागता तो आत्मा का स्वभाव है, उसमें तो परम सुख है। अहा, ज्ञान-वैराग्य के बल से जो अपने निजस्वरूप में स्थिर हुए उनके अतीन्द्रिय आनन्द का क्या कहना? राग के द्वारा उस आनन्द की कल्पना भी नहीं हो सकती। जैसा सिद्ध का सुख वैसा ही यह सुख... उसमें खेद कैसा? और शोक कैसा? – भले ही शरीर को सिंह-बाघ खा जाते हों! जिसमें ऐसे आनन्द का अनुभव है वही संवरतत्त्व है। ऐसे संवर को पहचानकर जीव अपने में प्रगट करे तब उसका दुःख मिटे और धर्म होवे। ऐसे तत्त्वज्ञान के बिना सच्चा त्याग-वैराग्य नहीं होता। जो रागादि बंधभाव को अच्छा या हितरूप माने, उसको विरागज्ञान नहीं होता और विरागज्ञान (वीतराग-विज्ञान) के बिना आत्मा का हित नहीं होता। अतः हे भव्य! तुम तत्त्व का यथार्थ

स्वरूप पहचानकर वीतराग-विज्ञान प्रगट करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

निर्जरा व मोक्षतत्त्व में अज्ञानी की भूल तथा मिथ्याज्ञान का स्वरूप

मिथ्यादृष्टि को जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व के विषय में जो भूल है उसको छुड़ाने के लिये उपदेश चल रहा है; जीव-अजीव, आस्रव-बंध व संवर तत्त्व का स्वरूप समझाकर उसमें अज्ञानी की भूल दिखलाई, अब निर्जरा व मोक्ष के सम्बन्ध में अज्ञानी कैसी भूल करता है – यह कहते हैं –

(गाथा-७)

रोकेन चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।

याही प्रतीति जुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान ॥७॥

आत्मा का स्वभाव निराकुल आनन्द से भरा है और इच्छा का उसमें अभाव है; परन्तु अपने ऐसे निजस्वभाव की शक्ति को अज्ञानी खो बैठा है, उसको वह भूल गया है, वह तो इच्छारूप राग को ही अपना स्वरूप मान बैठा है, अतः वह इच्छा का निरोध नहीं करता। इसप्रकार इच्छा के अभावरूप तप जिसमें आत्मा के आनन्द का अनुभव है और जो निर्जरा का कारण है, उसको अज्ञानी नहीं पहचानता वह तो ऐसा मानता है कि अनाज न खाने से मुझे तप हो गया और निर्जरा भी हो गई; परन्तु निर्जरा या तप का ऐसा स्वरूप नहीं है। अन्तरंग ध्यान के द्वारा चैतन्य का प्रतपन होना अर्थात् विशेष शुद्धता का होना वही तप और संपूर्ण निराकुलता रूप मोक्षतत्त्व है। – ऐसे निर्जरा व मोक्षतत्त्व को न पहचानकर अज्ञानी विपरीत मानता है।

इसप्रकार गाथा २ से ७ में कहे अनुसार सातों ही तत्त्व में अज्ञानी को विपरीत प्रतीति है; ऐसी विपरीत श्रद्धा सहित जो कुछ जानपना (ज्ञान) है वह सब अज्ञान है और दुःखदायक है; – ऐसा जानकर वह छोड़ने योग्य है।

पहली ढाल में चार गति के महादुःखों का जो वर्णन किया उसका कारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है; इनमें से तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा तथा विपरीत ज्ञानरूप मिथ्याश्रद्धा तथा मिथ्याज्ञान का स्वरूप दिखलाया और मिथ्याचारित्र का स्वरूप अब आठवीं गाथा में कहेंगे; – किसलिये? कि उसको पहचानकर छोड़ने के लिये।

भाई! तेरी आत्मा की शक्ति अपार है, इच्छा के द्वारा वह रुकी हुई है। स्वरूप में स्थिरता होने पर इच्छायें रुक जाती हैं और निजशक्ति का विकास होता है, यही निर्जरा है और यही मोक्ष का कारण है। संपूर्ण निराकुलता होनेपर पूर्ण सुखरूप मोक्षदशा प्रगट होती है। 'मैं ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा हूँ, पर मैं मेरा सुख नहीं है, शुभाशुभ इच्छायें मेरा स्वरूप नहीं है' – ऐसी पहचान के बिना शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध कभी नहीं होता और आनन्द का अनुभव नहीं होता। इच्छारहित आत्मा का सुखस्वभाव है उसके अनुभव से ही संवर-निर्जरा-मोक्ष होता है। अज्ञानी शुभराग से या देह की क्रिया से संवर-निर्जरा-मोक्ष होने का मानता है वह उसकी भूल है।

मोक्ष के कारणरूप निर्जरा सम्यग्दृष्टि को ही होती है; अकामनिर्जरा तो अज्ञानी के भी होती है उसकी बात नहीं है। ज्ञान और इच्छा भिन्न है; इच्छा तो आत्मशांति से विरुद्ध है, उसमें आकुलता है। जिसने शुभराग को मोक्ष का साधन माना उसने आकुल भाव के द्वारा मोक्ष होने का माना अतः उसका मोक्ष भी आकुलतारूप ही ठहरा; निराकुलता सुखरूप मोक्ष की उसे पहचान नहीं है। मोक्ष तो संपूर्ण निराकुलतारूप है, निराकुलता का कारण भी तो निराकुल भाव ही होता है, आकुलता कभी निराकुलता का कारण नहीं होती। शुभ इच्छा में भी आकुलता है, उसको यदि मोक्ष का कारण माना जाय तो कारण-कार्य में विपरीतता हो जाती है। ऐसी विपरीत श्रद्धा व विपरीत ज्ञान जीव को दुःख का कारण होता है; अतः उसको त्याग करना चाहिए अर्थात् राग को मोक्ष का साधन नहीं समझना चाहिए।

जीव इच्छा करे और फिर उसमें सुख माने, तब वह इच्छा को छोड़कर शांतस्वभाव का अनुभव कैसे करेगा? इच्छा तो स्वयं दुःख है; कहा भी है कि 'क्या इच्छत? खोवत सबै, है इच्छा दुःखमूल।' अरे जीव! तू अपने चैतन्यवैभव को भूला तब परमें से सुख लेने की बुद्धि तुझे हुई, किन्तु हे भाई! परमें से सुख लेने की बुद्धि करने से तेरे अखण्ड सुख के भंडार को तू भूल रहा है; तेरे निधान को खोकर (भूलकर) तू दुःखी हो रहा है। पर में सुख है ही नहीं, चैतन्य में ही सुख है, – ऐसा समझकर निजस्वरूप में स्थिर एकाग्र रहना और पर की इच्छा का निरोध करना – यही शांति है, यही तप है, यही निर्जरा है और यही मोक्ष का मार्ग है।

जीव-अजीव आदि तत्त्वों को अज्ञानी नहीं पहचानता; उसे ऐसी कल्पना होती है कि रुपये के बिना मैं मर जाऊँगा, शरीर के बिना मैं मर जाऊँगा, परन्तु अरे जीव! तुम तो चैतन्य से जीनेवाले हो; शरीरादि के संयोग से जीनेवाले तुम नहीं हो, उससे तो तुम भिन्न हो और उस तरफ की इच्छा के बिना ही तुम जीनेवाले हो; अतः पर के बिना मैं जी नहीं सकूँ – ऐसी मिथ्याबुद्धि को छोड़ो। मिथ्याभाव से जीव का भावमरण होता है और वही दुःख है। अपने जीव को पराश्रित मानने की भूल जीव अनादि से कर रहा है और उसके फल में दुःख भी अनादि से भोग रहा है। अब उस भूल को छोड़कर सुखी होने के लिये यह उपदेश है कि उपयोगस्वरूप अपने शाश्वत-स्वाधीन जीवन को पहचानो।

जीव ने अपने स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा व सम्यग्ज्ञान के बिना, शुभरागरूप व्यवहारक्रिया और व्यवहार जानपना अनन्तबार किया, परन्तु वे सब मिथ्या हैं। जीव मिथ्यात्वपूर्वक जो कोई भाव करता है वे सब दुःखदायक ही हैं। एक दूसरी छहढाला जोकि श्री बुधजन पण्डितजी द्वारा रचित है उसमें भी कहा है कि –

**सम्यक् सहज स्वभाव आपका अनुभव करना,
या बिन जप-तप व्यर्थ कष्ट के मांही पड़ना।**

कोटि बात की बात अरे! बुधजन उर धरना,
मनवचतन शुचि होय ग्रहो जिनवृष का शरणा॥

करोड़ों बातों का यही सार है कि आत्मा के सहज स्वभाव का अनुभव करना; इसके बिना सब व्यर्थ है। जिनवृष कहो या वीतरागविज्ञानरूप धर्म कहो – वही जीव को शरणरूप है।

देखो ! समयसारादि बड़े-बड़े शास्त्रों में तो यह बात है ही, किन्तु पहले के विद्वानों के द्वारा रचित छहठाला जैसी छोटी पुस्तकों में भी यही बात की है। उन पण्डितों का कथन भी आचार्यों के अनुसार ही है, उसमें वीतराग-विज्ञान का ही प्रतिपादन है। चैतन्य का वीतरागविज्ञान सुखरूप है और ऐसे वीतरागविज्ञानरूप धर्म को साधकर के अनादिकाल से जीव मुक्त होते रहते हैं। वीतराग-विज्ञानवंत जीव जगत् में सदाकाल विद्यमान होते ही हैं, अतः मुक्ति के लिए तुम भी वीतरागविज्ञान करो।

सभी आत्मा आनन्द को चाहते हैं; वह आनन्द कहीं बाहर में नहीं है, आत्मा में ही आनन्द है। अतः ज्ञानी कहते हैं कि हे जीव! तेरे आत्मा में ही आनन्दित रह; (तुं आत्मामां गमाड) सदैव आत्मा की ही प्रीति कर। आत्मज्ञान के बिना सब दुःखदायक ही है। सात तत्त्वों की सच्ची पहचान करने से उसमें आत्मा की पहचान आ जाती है। वह इसप्रकार –

(१) 'जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं' – जीव सदा उपयोग लक्षणरूप है, वह शरीरादि अजीव से भिन्न तत्त्व है।

(२) पुद्गलादि अजीवतत्त्व है उनमें ज्ञान नहीं है; यह जीव और अजीव दोनों के काम भिन्न अपने अपने में है।

(३) मिथ्यात्वादि भाव है सो आस्रव है, पुण्य-पाप दोनों ही आस्रव में समाते हैं। ये आस्रवभाव जीव को दुःखदायक हैं।

(४) सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव के द्वारा कर्म का संवर होता है। ये सम्यग्दर्शनादि भाव जीव को सुखरूप है और मोक्ष का कारण है।

(५) मिथ्यात्वादि भाव बंध का कारण है; शुभराग भी बंध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं है।

(६) सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्धता से कर्मों की निर्जरा होती है।

(७) आत्मा की पूर्ण शुद्धता होने पर आकुलता का सर्वथा अभाव हो जाना और कर्मों के बंधन से आत्मा का मुक्त होना वह मोक्षतत्त्व है; वह पूर्ण सुखरूप है।

इसप्रकार सात तत्त्वों को पहचानकर उनमें से सम्यग्दर्शनादि सुख के कारणों का ग्रहण करना और दुःख के कारणरूप मिथ्यात्वादि का त्याग करना, — इसीलिये यह उपदेश है। ऐसा यथार्थ तत्त्वश्रद्धान् सो सम्यग्दर्शन है, और सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मूल है।

अज्ञानी जीव बाहर की अनुकूलता से अपने को सुखी मानता है, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना वास्तव में वह दुःखी ही है। चींटी जब शक्कर खा रही हो उस समय भी वह दुःखी है, मनुष्य मिष्ठान्न खा रहा हो तब भी वह दुःखी है, स्वर्ग का मिथ्यादृष्टि देव अमृत का स्वाद लेता हो उस वक्त भी दुःख का ही वेदन कर रहा है; परन्तु ये जीव भ्रम से अपने-अपने को सुखी मानते हैं। अरे भाई ! यह तो अशुभ इच्छा है, पाप है, आकुलता है, उसमें दुःख का ही वेदन है, मुख में जब मिष्ठान्न पड़ा हो उस समय जीव के रागस्वरूप दुःख का हो स्वाद आता है, मिष्ठान्न का नहीं। यह तो हुई अशुभ की बात और जब शुभपरिणाम हो, शुक्ललेश्या हो उससमय भी अज्ञानी जीव दुःखी ही है। जहाँ सुख भरा है उस वस्तु को वह जानता भी नहीं है, तब उसे सुख कैसा? सुख तो आत्मा का स्वभाव है — उसके अनुभव से मोक्षसुख होता है। मोक्ष में आकुलतारहित संपूर्ण सुख है, किसी भी विषय की (अशुभ या शुभ) इच्छा वहाँ नहीं है।

‘मोक्ष में कुछ खाना-पीना आदि तो नहीं है?’ — परन्तु क्यों हो? — जबकि वहाँ आकुलता ही नहीं। जहाँ खाने-पीने की कोई इच्छा ही नहीं

तब फिर वहाँ खान-पान का क्या काम है? 'आत्मा स्वयं सुखधाम है फिर विषयों का क्या काम है?' जिसको आत्मा में से ही सुख का अनुभव हो रहा है उसे बाह्य विषयों का क्या काम है? जहाँ आत्मा के सहज सुख में लीनता है वहाँ बाह्य पदार्थ की इच्छा ही नहीं रहती। सुख तो आत्मा में से उत्पन्न होता है, किसी बाह्य वस्तु में से नहीं आता। बाह्य पदार्थों का उपभोग करना कौन चाहेगा? – कि जो इच्छा से दुःखी होगा वह। जो स्वयं अपने आप सुखी होगा वह अन्य पदार्थ की इच्छा क्यों करेगा? – जो निरोग हो वह दवाई की क्यों इच्छा करे? मुक्त जीवों को जगत् के सभी पदार्थों का ज्ञान है, परन्तु इच्छा किसी की नहीं है; इच्छा न होने से दुःख भी नहीं है; वे अपने चैतन्यसुख के ही वेदन में लीन हैं – यदि ऐसी मोक्षदशा को पहचाने तो आत्मा के स्वभाव की पहचान हो जाय; राग में या विषयों में सुख होने की बुद्धि छूट जाय और उनसे भिन्न आत्मा का अनुभव हो। इसी का नाम है वीतरागविज्ञान और यही है मोक्षसुख की राह।

जिसको ऐसा वीतरागविज्ञान नहीं है और विषयों में या राग में जिसको सुख लगता है वह सचमुच में मोक्ष को नहीं चाहता, मोक्ष के स्वरूप को वह पहचानता भी नहीं है, वह तो अज्ञान से राग को – विषय को ही चाहता है। अहो! मोक्ष तो परम आनन्द है, परम निरपेक्ष है, जिसमें जगत् के किसी भी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, अकेले आत्मा में से ही प्रगट होनेवाला पूर्ण आनन्द है। ज्ञानी उसकी भावना भाते हैं कि –

सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख है,

अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो...

– ऐसे परमपद प्राप्ति की है भावना।

अज्ञानी को तो ऐसे मोक्ष का ज्ञान नहीं है, वह तो अज्ञान से मोक्ष के नाम पर राग की ही भावना भाता है। (अज्ञान से वह पुण्य इच्छे-हेतु जो संसार का) मोक्ष में राग रहित पूर्ण शान्ति है; यहाँ भी राग का

जितना अभाव हुआ इतनी ही शांति है, कोई बाह्यपदार्थ के उपभोग में से तो शांति नहीं आती; बाह्यपदार्थ तो जड़ और पर है, उसकी इच्छा वह दुःख है; 'सुख' में किसी की इच्छा नहीं रहती, सुख तो आत्मा का स्वभाव है। ऐसा पूर्णसुख वही मोक्ष है।

मोक्ष में सिद्धभगवान क्या करते हैं? वे सदाकाल अपने आत्मिक सुख को भोगते हैं। 'क्या वे हमारा कुछ भी नहीं करते?' ना; नहीं करते; तो, अज्ञानी कहते हैं कि – जो हमारा कुछ भी न करे ऐसे सिद्धभगवान से हमें क्या काम? ऐसे सिद्धभगवान हमें नहीं चाहिए।' – अर्थात् ऐसा मोक्ष ही उसको पसन्द नहीं है, उसको तो पर की कर्तृत्वबुद्धि के मिथ्यात्व में रुलना है। अरे भाई! सिद्धपद की तुम्हें पहचान ही नहीं है। जरा सोचो तो सही – यहाँ तुम भी क्या करते हो? पर का कार्य तो तुम भी नहीं कर सकते, तुम मात्र तुम्हारे में ही राग और अज्ञान करके दुःख को भोगते हो; यह संसार है; जबकि सिद्धभगवान वीतराग-विज्ञान से परमसुख को भोगतै हैं, वे निजानन्द के अनुभव में मग्न हैं और आकुलता जरा भी नहीं करते; यह मोक्ष है। सिद्धभगवन्तों को स्वरूप में पूर्ण स्थिरता होने से पूर्ण सुख है; साधक को भी स्वरूप में जितनी स्थिरता है इतना सुख है; अज्ञानी को तो अपने स्वरूप की पहचान ही नहीं; अतः रागादि परभाव में ही लीनता से वह दुःखी है, मोक्षसुख कैसा है उसका स्वाद भी वह नहीं जानता।

आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, केवलज्ञान की शक्तिवाला है, राग उसका स्वरूप नहीं, किन्तु चेतना उसका स्वरूप है; स्वसन्मुख होकर अपनी इस शक्ति को प्रगट करना चाहिये; किन्तु अज्ञानी निज शक्ति को भूलकर राग को ही प्रगट करता है और उससे अपने को लाभ मानता है। आत्मशक्ति की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन के बिना संवर-निर्जरा या मोक्ष नहीं हो सकता। इच्छा से भिन्न चैतन्यस्वरूप को जाने बिना इच्छा को

रोकेगा कौन? निजस्वरूप में स्थिर होने से ऐसा आनन्द व शुद्धता प्रगट होते हैं कि कोई इच्छा ही नहीं रहती, तभी इच्छा के निरोधरूप तप तथा निर्जरा होते हैं।

जिसको भान ही नहीं कि मैं कौन हूँ – वह एकाग्र किसमें होगा? जिसका ऐसा अभिप्राय है कि दुनिया में जीवों का कल्याण करने के लिए हमें राग करना चाहिए, यदि दूसरों का कल्याण होता हो तो भले हमें भव करना पड़े, – यह बुद्धि मिथ्यादृष्टि की है, उसने राग को लाभरूप मान लिया है और रागरहित अपने चेतन स्वरूप को नहीं माना है। अरे अविवेकी! तू ज्ञान हो कि राग हो? क्या तेरे राग करने से दूसरों का कल्याण हो जायगा? दूसरों का कल्याण स्वयं उनके करने से होगा – कि तू कर देगा? अभी तेरे कल्याण की राह भी तुझे मालूम नहीं है और व्यर्थ दूसरों की चिंता क्यों कर रहा है?

‘जो दूसरों को तारे वह स्वयं तारे’ – ऐसी पराश्रय की बात लोगों को अच्छी लगती है, किन्तु वह सच्ची नहीं है। और ‘जो आप तारे वह दूसरे को तारे’ – ऐसा भी नहीं है। लोगों को आत्मा की स्वाधीन शक्ति का लक्ष न होने से लोगों को पराश्रयबुद्धि होने से वे ऐसा समझते हैं कि कोई ज्ञानी गुरु या भगवान हमें तार देंगे; – किन्तु वह सच नहीं है। भाई, तू ही तेरा तारक हो, दूसरा कोई तेरे को तारनेवाला नहीं है। यदि कोई तारेगा, तब फिर दूसरा कोई तेरे को डुबा देगा, तब तू क्या करेगा? अतः पराश्रयबुद्धि छोड़ दे। जीव स्वयं अपने में आत्मा की पहचान करके; वीतरागविज्ञान के राग का अभाव करके तिरता है; और अन्य जीव भी जब ऐसा वीतराग-विज्ञान करेंगे तभी वे तिरेंगे; इसप्रकार वीतरागविज्ञान ही सभी के लिये मुक्ति का उपाय है। उसमें अन्य जीव कुछ नहीं करता। दूसरों को तारने की इच्छा आत्मा का स्वरूप नहीं है, उपदेश की भाषा आत्मा की नहीं है, इच्छा से या भाषा से आत्मा को कोई लाभ नहीं; ज्ञानस्वरूपी आत्मा

उन दोनों से भिन्न है, उसके वेदन में इच्छा का अभाव है। इसप्रकार जिसने इच्छा के निरोधरूप तप होता है और उसे ही निर्जरा होती है। शरीर को कष्ट देने से निर्जरा होने का जो मानता है उसको निजात्मशक्ति के विकासरूप निर्जरा का ज्ञान नहीं है, उसे तो देहबुद्धि है अतएव मिथ्यात्व का बड़ा आस्रव है। निर्जराधर्म में तो आत्मा की शक्ति का विकास है, शुद्धता की वृद्धि है, आनन्द का वेदन है, उसमें कष्ट नहीं – दुःख नहीं। ऐसी निर्जरा ही मोक्ष का कारण है।

अज्ञानी देह में और राग में एकत्वबुद्धिपूर्वक जो तप करता है वह वास्तविक तप नहीं है और उससे मोक्ष के कारणरूप निर्जरा नहीं होती; मिथ्यात्वसहित होने से वह बालतप है अर्थात् मिथ्यातप है अज्ञानतप है; उसमें अकाम-निर्जरा तो है परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शनपूर्वक का सम्यक् तप है, उससे सकाम निर्जरा होती है। निर्जरा के ऐसे स्वरूप को अज्ञानी नहीं जानता और अन्यथा मानकर संसार में भ्रमण करता है। जीव वीतरागविज्ञान के द्वारा ही ऐसे संसारभ्रमण से छुटकारा पाता है।

भाषा और इच्छा ये जीव का धर्म नहीं है; जीव उन दोनों से भिन्न है। दूसरे जीव समझे या विरोध करें इससे इस जीव को कोई लाभ या नुकसान नहीं होता। दूसरों को समझाने का जो शुभ विकल्प है वह अपने को बन्ध का कारण है – चाहे वह बंधन तीर्थकर नामकर्म प्रकृति का हो – किन्तु आखिर में तो वह बंधन ही है; और जो बंधन है वह धर्म नहीं होता और मोक्ष का कारण भी नहीं होता। यद्यपि तीर्थकर प्रकृति धर्मों के ही बंधती है परन्तु वह धर्म से नहीं बंधती है, धर्म के साथ में जो राग-अपराध शेष रहा है उसी से वह बँधती है। धर्मों को उस रागका, उस प्रकृति का या उसके फल का आदर नहीं है, उससे वह अपने को लाभ नहीं मानते, उससे भिन्नस्वरूप अपना अनुभव करते हैं। जितनी सम्यग्दर्शनपूर्वक

वीतरागता हुई उतना ही लाभ है और उतना ही धर्म है। आत्महित में उपायरूप ऐसे वीतरागविज्ञान को अज्ञानी लोग नहीं पहचानते; उसको तो वे कष्टदायक मानते हैं और रागादिको सुखदायक मानते हैं और ऐसे विपरीतमान्यतापूर्वक उनके व्रत-तपादि भी विपरीत ही होते हैं – यह बात आगे की गाथा में दिखायेंगे। इसप्रकार तत्त्व की समझ में अनादि से जीव की भूल है वह छुड़वाने के लिये श्रीगुरु का उपदेश है।

भाई! तुम्हारे आत्मा के ज्ञान बिना तुम बहुत दुःखी हुए। आत्मा के ज्ञान के बिना परसन्मुख झुकाव रुकता नहीं, इच्छा टूटती नहीं और दुःख मिटता नहीं। जिन्होंने आत्मा को देह से भिन्न जान लिया है वे देह में रोगादि होने पर भी आत्मस्वरूप की सावधानी नहीं चूकते। लाखों प्रतिकूलता हो तो भी मुझे क्या? – वे कोई मेरे में तो नहीं है। परद्रव्य आओ या जाओ या छिन्न-भिन्न होवो, इसमें मुझे क्या? मैं तो ज्ञान हूँ; ज्ञान में न इच्छा है, न संयोग। जिसको ऐसे निजरूप का भान नहीं है वह कदाचित् भगवान का नाम लेता हुआ मरे तो भी देह में और राग में ही मूर्छित है, उससे भिन्न निजस्वरूप की जागृति उसको नहीं है। उसे मोक्ष की या मोक्षमार्ग की भी खबर नहीं है।

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र, देह से भिन्न, चेतनामय है; उसको न जानकर कोई ऐसा माने कि देह और आत्मा एक हैं, कोई ऐसा माने कि राग और आत्मा एक हैं और कोई ऐसा माने कि मोक्ष में एक आत्मा दूसरी आत्मा से मिल जाती है, – तो वे सब स्व-पर की एकत्वबुद्धि में समान ही हैं। जैसे यहाँ भी प्रत्येक आत्मा अलग अपने-अपने भाव में रहकर अपने-अपने सुख-दुःख का वेदन करता है, वैसे मोक्षदशा में भी प्रत्येक मुक्त जीव अलग अपने-अपने स्वरूप में रहकर अपने-अपने आनन्द का वेदन करते हैं, हर एक का स्वतंत्र अस्तित्व है।

और, ऐसा भी नहीं कि कोई एक ईश्वर है उसमें यह जीव मिल जाता

है, अर्थात् जीव ईश्वर का अंश है – ऐसा नहीं है, परन्तु जीव स्वयं पूर्ण ईश्वर है। मोक्ष में अनन्त आत्मा भिन्न-भिन्न रहकर (भले एक ही क्षेत्र में हो तो भी अपने-अपने स्वरूप में भिन्न रहते हुए) प्रत्येक आत्मा अपनी निजशक्ति का परम ईश्वर है; आत्मा स्वयं अपने ऐश्वर्य वाला ईश्वर है। आत्मा में अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तियों का पूर्णरूप से प्रगट होना उसी का नाम ईश्वरपना है, और इसी से ईश्वर को अनन्त शक्तिमान कहा गया है।

कोई दुर्मति ऐसा भी मानता है कि ज्ञान का अभाव हो जाना उसका नाम मोक्ष; परन्तु ऐसा तो मोक्ष का स्वरूप नहीं है। मोक्षदशा तो पूर्ण ज्ञान-आनन्द से भरपूर है। ज्ञानादि की पूर्णता होना वह मोक्ष है, इसके बदले में ज्ञान की शून्यता को मोक्ष मानता है – यह तो बहुत विपरीतता है। मोक्ष होने पर यदि ज्ञान की शून्यता हो जाती हो तब तो आत्मा जड़ हो जायेगा तो फिर ऐसे मोक्ष को कौन चाहेगा? ऐसा कौन होगा जो अपने ही अभाव को इच्छे? मोह के लिये रागादि परभावों से छूटने का है, परन्तु अपने ज्ञानादि निजगुणों से छूटने का नहीं है। अज्ञानियों की भ्रमणा का पार नहीं अतः वे ज्ञानादि निजगुण से छूटने का मानते हैं। आप स्वयं कौन हैं और अपने गुण कैसे हैं – उसकी उनको पहचान नहीं है। “मोक्ष कष्ट्यो निजशुद्धता” – उसकी जैसे प्राप्ति हो वही मोक्ष का पन्थ है। मोक्ष का स्वरूप समझने में जिसकी भूल हो उसके मोक्ष के उपाय में भी भूल होगी ही।

जीव की साततत्त्व में भूल अनादि से है, अतः कुगुरुओं के उपदेश के बिना भी अनादि से उसको मिथ्याश्रद्धा व मिथ्याज्ञान चल रहा है। उपयोगस्वरूप आत्मा मैं हूँ और मेरी चाल पाँच अजीव द्रव्यों से जुदी है – ऐसे अपने भिन्नस्वरूप को समझने से अनादि की भूल मिटती है।

- जीव स्वयं उपयोगस्वरूप है – उसे अज्ञानी नहीं जानता;
- देहादि अजीव अपने से भिन्न होनेपर भी उसे वह अपना मानता है;

- रागादिक आस्रव दुःखदायी होने पर भी उसे वह सुखरूप मानकर सेवन करता है;
- पुण्य-पाप दोनों ही बंधनरूप होते हुए भी पुण्यबंधन को वह अच्छा समझता है;
- संवर के कारणरूप जो ज्ञान-वैराग्य, उसे वह कष्टरूप समझता है;
- इच्छा के निरोध से निजशक्ति के विकासरूप निर्जरा को वह नहीं जानता;
- परम निराकुल आनंदस्वरूप मोक्षदशा को भी वह नहीं पहचानता;

इसप्रकार सातों तत्त्व में अज्ञानी की भूल है। कई बार शास्त्रानुसार वह सात तत्त्व को जान लेता है और शास्त्र अनुसार कह भी देता है, किन्तु अन्तर में अपने सच्चे स्वरूप के वेदन के बिना सातों तत्त्वों में उसकी सूक्ष्म भूल रह जाती है। जब अन्तर में राग से पार होकर अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे तभी तत्त्व का सच्चा श्रद्धान् और सच्चा ज्ञान होता है और इसके बाद चारित्र होता है। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से मोक्ष होता है।

अहा ! मोक्षदशा तो सर्वथा आनन्दरूप है, और उसमें आकुलता का सर्वथा अभाव है; सबसे निरपेक्ष अकेला जीव अपनी शुद्धता सहित सदाकाल विराजित है, उसे न राग-द्वेष है; न शरीर है, न इच्छा है; उसे इन्द्रियों से रहित परिपूर्ण ज्ञान है और इन्द्रियविषयों से रहित परिपूर्ण आत्मसुख है। इन्द्रियों से रहित पूर्णज्ञान व पूर्णसुख कैसा होता है – इसकी अज्ञानी को कल्पना भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो इंद्रियज्ञान का व इंद्रियसुख का ही अनुभव करनेवाला है, अतः मोक्ष में होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान का व अतीन्द्रियसुख का अस्तित्व ही उसे नहीं दीखता। अहो! अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख का कोई अपार माहात्म्य है, श्रीकुन्दकुन्दस्वामी ने भी प्रवचनसार में उसकी बड़ी भारी महिमा समझायी है; जो उसका स्वरूप समझे उसे अपने में भी अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय

आनन्द का अंश अनुभव में आ जाता है। इन्द्रियज्ञान से ऐसा स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। जो अकेले इन्द्रियज्ञान में या राग में ही मग्न है वह तो कोई रागादिको साधन बनाकर उससे मोक्ष को साधना चाहता है, परन्तु ऐसा तो मोक्ष का साधन नहीं है; मोक्ष का सच्चा उपाय वह नहीं जानता।

इसप्रकार तत्त्व की भूल सो मिथ्यात्व है; और मिथ्यात्वसहित का जो कुछ जानपना या शास्त्रपठन आदि हो वह सब अज्ञान है; – मिथ्याज्ञान है; और ऐसे मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञानसहित जो कोई शुभाशुभआचरण है वह सब मिथ्याचारित्र है। ऐसे मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र जीव को महान दुःख देनेवाला है। अतः हे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से उसका अभाव कर तेरे सच्चे स्वभाव की श्रद्धा तूने कभी नहीं की, उसका ज्ञान भी न किया, और न उसमें स्थिरता की; मिथ्यात्वादि विपरीत भावों का सेवन करके तूने दुःख ही भोगा है। अब उससे छुटकारा पाने के लिये वीतरागी सन्तों का यह उपदेश तू ग्रहण कर।

मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान के कारण से जीव की तत्त्वों के स्वरूप में किसप्रकार की भूल होती है यह दिखाया; अपनी यह भूल समझकर उसको टालना चाहिए और सम्यक्त्वादि प्रगट करके मोक्षमार्ग में लगना चाहिए। अब आगे की गाथा में मिथ्याचारित्र का स्वरूप भी संक्षेप से दिखाकर उसे छोड़ने का उपदेश देते हैं।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप

जीव को दुःख देनेवाले ऐसे मिथ्याश्रद्धा तथा मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहा, अब मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहते हैं –

(गाथा-८)

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त।

यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह॥८॥

तत्त्व में जिसकी भूल है, श्रद्धा और ज्ञान जिसका मिथ्या है, वह उसको निजस्वरूप में प्रवृत्तिरूप सच्चा चारित्र नहीं होता; वह मिथ्यात्वसहित बाह्य विषयों में ही वर्तता है; उसको मिथ्याचारित्र जानो। यह मिथ्यात्वादि नैसर्गिक है, क्योंकि कुगुरु आदि निमित्त के बिना भी जीव निजस्वरूप को भूलकर ऐसी भूल कर रहा है; उसको अगृहीत कहते हैं। और कुगुरु आदि के निमित्त से जीव जो विशेष मिथ्यात्वादि भावों को ग्रहण करता है उसको गृहीत कहते हैं। उसका कथन आगे करेंगे।

चैतन्यस्वभाव शुभ-अशुभ दोनों से पार है, उसका श्रद्धाज्ञान करके उसमें चरना वही सच्चा चरित्र है, वह वीतरागभावरूप है। ऐसा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जीव ने पूर्व कभी नहीं सेये। अज्ञान सहित मंदकषाय किया, शुक्ललेश्या भी की; परन्तु शुक्ललेश्या वह धर्म नहीं है। शुक्लध्यान अलग चीज है और शुक्ललेश्या अलग चीज है; शुक्लध्यान तो मोक्ष का कारण है और शुक्ललेश्या तो उदयभाव है। अज्ञानी को शुक्लध्यान नहीं होता, शुक्ललेश्या किसी को हो सकती है। किसी को शुक्ललेश्या हो और अज्ञानी हो, किसी को कृष्णलेश्या हो और वह ज्ञानी हो; अतः लेश्या के आधार से किसी का ज्ञानी-अज्ञानीपने का निर्णय नहीं होता।

हे जीव! संसार के सर्व दुःखों का कारण यह मिथ्यात्वादिक ही हैं; दूसरा कोई दुःख देनेवाला नहीं है – ऐसा जानकर उसका त्याग करना चाहिए; – कैसे? कि सच्चे तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्यात्वादिका नाश होता है। सच्चे तत्त्वज्ञान के बिना इन्द्रियविषयों की अभिलाषा कभी नहीं मिटती; भले शुभराग और शुभविषय हों, किन्तु वे भी इन्द्रियविषय ही हैं, उनमें मग्न होनेवाला जीव अतीन्द्रिय स्वविषय को भूल रहा है। अनुकूल इन्द्रियविषय मिलने पर अज्ञानी अपने को सुखी समझता है एवं शुभराग होने से अपने को सुखी और धर्मी मान लेता है, परन्तु भाई, वह तो मिथ्याचारित्र है, उसमें सुख कैसा? और धर्म कैसा? वह तो दुःख है,

अधर्म है। इसप्रकार अगृहीत मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को दुःख का कारण जानकर उसका त्याग करो।

अब अगृहीत के उपरांत, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवन से होनेवाला जो गृहीत मिथ्यात्वादि उसका स्वरूप दिखाकर उसको छोड़ने का उपदेश करते हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप

मिथ्यात्वपोषक कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का सेवन छोड़ने का उपदेश

(गाथा-९ से १२)

जो कुगुरु-कुदेव-कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव।
 अन्तर रागादिक धरै जेह, बाहर धन-अम्बरतैं सनेह ॥९॥
 धरै कुलिंग लहि महंत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपल नाव।
 जो राग-द्वेष मलकरि मलीन वनिता-गदादिजुतचिह्नचीन ॥१०॥
 ते हैं कुदेव, तिनकी जु सेव शठ करत, न तिन भवभ्रमण छेव।
 रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस-थावर मरण खेत ॥११॥
 जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरथै जीव लहै अशर्म।
 याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ॥१२॥

इन चार गाथाओं में कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का स्वरूप दिखाकर उनका सेवन छोड़ने का उपदेश है, क्योंकि उनके सेवन से जीव का बड़ा अहित होता है। हे जीव! ऐसे दुःखदायी मिथ्याभावों को छोड़कर तू आत्महित के पंथ में लाग।

(१) कुगुरु आदिका सेवन तो अनादि के दर्शनमोह को पुष्ट करनेवाला है। कैसे है कुगुरु? – अन्तर में तो जिनके मिथ्यात्व और रागादि हैं तथा बाह्य में धन-वस्त्रादि का स्नेह रखते हैं; शुद्ध दिगम्बरदशा के अतिरिक्त अन्य कुलिंग को धारण कर वे अपने महंतभाव को पुष्ट करते हैं। वे कुगुरु जन्मजल से भरपूर इस संसारसमुद्र में पत्थर की नाव के समान हैं; जैसे

पत्थर की नौका स्वयं तो डूबती है और उसमें बैठनेवाले भी डूबते हैं; वैसे कुगुरु भी स्वयं भवसमुद्र में डूबते हैं और उनका सेवन करनेवाले भी भवसमुद्र में डूबते हैं।

(२) कुदेव कैसे हैं? जो राग-द्वेष-मोहरूपी मेल से मलिन हैं और स्त्री-गदा-मुकुट आदि से चिह्नित हैं वे कुदेव हैं; ऐसे कुदेव की जो मूर्ख जीव सेवा करते हैं उनके भवभ्रमण का छेद नहीं होता। सच्चे सर्वज्ञ-वीतराग जिनदेव ही सुदेव हैं; उनसे विरुद्ध सरागीपने में या वस्त्रादि परिग्रहसहित दशा में देवत्व मानना सो देव की विपरीत श्रद्धा है अर्थात् कुदेवसेवन हैं और वह भवभ्रमण का कारण है। अतः उसका सेवन छोड़ना चाहिए।

(३) कुधर्म क्या है? – जो रागादि भावहिंसा से सहित हैं और त्रस-स्थावर के मरणरूप द्रव्यहिंसा का स्थान है – ऐसी क्रियाओं को कुधर्म जानो, ऐसे कुधर्म का सेवन करने से जीव बहुत दुःखी होता है; अतः उसे छोड़ना चाहिए।

इसप्रकार कुगुरु-कुदेव-कुधर्म के सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को दुःखदायक जानकर उसका त्याग करो; और सच्चे देव-गुरु-धर्म का स्वरूप पहचानकर, यथार्थ तत्त्वश्रद्धा करके सम्यग्दर्शनादि प्रगट करो; यह परम कल्याण का मूल है।

कोई जीव कुदेवादि का सेवन छोड़कर सच्चे देवादिक की पूजा-भक्ति करता है, प्राण चले जाय तो भी कुदेव-कुगुरु को नहीं मानता, परन्तु यदि इतने शुभराग में ही रुक जावे और देव-गुरु ने जो परमार्थ तत्त्व कहा उसकी सच्ची पहचान न करे, स्वसन्मुख होकर शुद्धात्मा की श्रद्धा न करे, तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता; उसका गृहीतमिथ्यात्व तो छूटा, परन्तु अभी अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा। जीव गृहीत मिथ्यात्व से छूटकर ऊँचे

स्वर्ग में अनंतबार गया, क्योंकि गृहीत मिथ्यात्ववाला जीव ऊँचे स्वर्ग में नहीं जा सकता; उसको ऐसे ऊँचे पुण्य होते ही नहीं; ऐसे गृहीतमिथ्यात्व को छोड़ने पर भी अन्तर में सूक्ष्मरूप से राग को अपना स्वरूप मानकर उसके वेदन में वह रुक गया, राग से पार अपने शुद्धस्वरूप का वेदन उसने न किया, इसकारण उसका अनादि का मिथ्यात्व न छूटा और वह संसार में रुलता ही रहा।

अहा, जैनधर्म का गुरुपद वह तो महान पवित्र परमेष्ठीपद है; जिनके अंतर में मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष का परिग्रह नहीं है और बाहर में वस्त्र-धन वगैरह का परिग्रह नहीं है; शुद्ध रत्नत्रय में वर्तते हुए वे आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं और मोक्ष को साधते हैं – ऐसे पवित्र गुरुपद को जो नहीं मानते, जिसके अन्तर में मिथ्यात्व-रागादि परिग्रह हैं और बाहर में भी धन-वस्त्र-मकान-स्त्री आदि परिग्रह रखते हैं – जो कि उस प्रकार के उनके अंतरंग मोहभाव को सूचित करनेवाले हैं, परम निस्पृह दिगंबरदशा के सिवाय अनेक प्रकार के कुलिंगसहित वर्तते हैं और अपने को महानगुरु समझते हैं, – वे कुगुरु हैं; मिथ्यात्व के कारण वे स्वयं तो पत्थर की नाव की तरह संसारसमुद्र में डूबते हैं; और अन्य जो जीव वीतरागी गुरुओं का स्वरूप न पहचानकर ऐसे कुगुरुओं को सच्चा समझकर उनका सेवन करते हैं वे भी संसार समुद्र में डूबते हैं। अन्य कुगुरु ने उनको नहीं डुबोया, किन्तु उन्होंने स्वयं अपने भाव में मिथ्यात्व को पुष्ट किया इसलिये वे संसार में डूबे। जैसे, पत्थर की नौका तो नौका में ही थी, किन्तु तू उसमें क्यों बैठा? बैठनेवाले को विचार करना चाहिए था कि जिसमें मैं बैठ रहा हूँ वह नौका लकड़ी की है कि पत्थर की? – तारनेवाली है कि डुबानेवाली? वैसे, कुगुरुओं का मिथ्याभाव तो उनके पास रहा, किन्तु तुमने क्यों उसको अच्छा माना? भाई! तुझे विचार करके विवेक करना चाहिए कि किसके सेवन से मुझे लाभ है। जो स्वयं वीतराग है और

वीतरागता का ही उपदेश देनेवाले हैं – उनके सेवन से ही हित होगा; किन्तु जो स्वयं रागी है और राग के सेवन का उपदेश देनेवाले हैं – उनके सेवन से हित नहीं होगा। अतः अपने हित के लिये सत्य-असत्य दोनों को पहचानकर उसका विवेक कर और कुगुरुओं का सेवन छोड़।

पण्डित श्री टोडरमलजी कहते हैं कि “अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से तो धर्म है, इन विषे शिथिलता राखें तब अन्य धर्म कैसे होय? तातैं बहुत कहवो करि कहा? सर्वथा प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है। कुदेवादि का त्याग न करने से मिथ्यात्वभाव बहुतपुष्ट होय है। यह/जानि मिथ्यात्वभाव छोड़ी अपना कल्याण करो।

वीतरागशासन में देव-गुरु-धर्म वीतरागता के ही पोषक हैं; जो राग से धर्म मनाते हों अथवा देह की क्रिया को आत्मा की मनाते हों ऐसे कोई देव-गुरु-धर्म वीतरागशासन में नहीं हैं अर्थात् वे कुदेव-कुगुरु-कुधर्म हैं उनको मानने से तीव्र मिथ्यात्वभाव के कारण जीव का बहुत अहित होता है। वे राग से धर्म मानते हैं, वस्त्रादि परिग्रह सहित साधुपना मानते हैं और साथ में महावीर भगवान का नाम देकर बातें करते हैं, किन्तु महावीर कौन थे इसकी पहचान नहीं है, महावीर के मार्ग को वे जानते नहीं हैं। वीर का मार्ग तो वीतरागता का मार्ग है; जो राग से पार आत्मस्वभाव की वीरता-वीतरागता प्रगट करे वे ही वीरमार्ग के उपासक हैं। राग से धर्म मानकर जो राग का सेवन करते हैं वह वीर के वीतराग मार्ग के उपासक नहीं है। अहा, वीर का वीतरागमार्ग अद्भुत है। परन्तु कुगुरुओं ने उसको अन्यथा मना दिया। राग की रुचिवाले जीव वीतराग-महावीर के सच्चे भक्त नहीं अपितु उनके विराधक हैं। राग की रुचिवाले जीव की परिणति राग को नमती है, वीतराग भगवान को नहीं नमती; भले वह ‘णमो अरिहंताणं’ ऐसा बोलता हो, किन्तु उस समय भी उसकी परिणति राग की ओर झुककर राग को ही नमती है, अरिहंत को नहीं नमती। यदि अरहंत को नमे अर्थात् वीतरागी शुद्धस्वरूप की सन्मुख होकर उसमें नमे,

तो उसकी परिणति में सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव प्रगट हो जाय। अकेले राग में स्थित रहकर वीतराग को नमस्कार नहीं हो सकता, राग से भिन्न होकर वीतराग को नमस्कार होता है। यही बात श्री समन्तभद्रस्वामी महावीर भगवान की स्तुति में कहते हैं कि –

हे जिन सुर असुर तुम्हें पूजें।

मिथ्यात्वीचित्त नहीं तुम पूजें॥

हे देव! सम्यग्दृष्टि का ही चित्त आपकी वास्तविक पूजा करता है, मिथ्याबुद्धिवाले अज्ञानी का चित्त आपकी पूजा नहीं कर सकता, क्योंकि राग से भिन्न आपके स्वरूप को वह पहचानता ही नहीं है। जैसे तोता 'राम' बोलता है, परन्तु राम का स्वरूप उसे मालूम नहीं है, वैसे अज्ञानी राग से लाभ माननेवाला कदाचित् तोते की तरह 'महावीर' का नाम बोले, परन्तु महावीर के स्वरूप की उसे पहचान नहीं है। महावीर ऐसे नहीं थे – जो राग से धर्म माने। और तू कहता है कि राग से धर्म होगा, – तो तूने महावीर को माना कि राग को माना? महावीर को माननेवाला राग से धर्म नहीं मानता; और राग से धर्म माननेवाला महावीर को नहीं पहचानता। रागरहित चिदानन्दस्वभाव मैं हूँ – ऐसी अंतरात्मादृष्टि जिसने की वह अपने परमार्थ वीतरागस्वरूप में झुका और उसने ही वीतराग महावीर को सच्चा नमस्कार किया। यह बात समयसार की ३१वीं गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने अलौकिक रीति से समझाई है। अहा! वीतरागमार्गी सन्तों की कथनी ही जगत से जुदी है, वह अन्तर्मुख ले जाने वाली है।

जैनधर्म में गुरुपदवी अर्थात् मुनिदशा वस्त्रादि रहित ही होती है – यह त्रिकाली नियम है। जो वस्त्रादि परिग्रह सहित है वह गृहस्थ है, ऐसे गृहस्थ को आत्मा का ज्ञान हो सकता है, सम्यग्दर्शन हो सकता है, निर्विकल्प अनुभव और पंचम गुणस्थान रूप श्रावकपना भी हो सकता है, परन्तु साधुपना-मुनिपना उसको नहीं हो सकता। जैन साधुओं को अन्तर में तीन कषाय के अभाव से इतनी वीतरागता हो गई है कि शरीर के प्रति

निर्मोहता हो गई है, अतएव वस्त्रादि से देह के रक्षण की वृत्ति ही उन्हें नहीं होती। मुनिपद वह तो परमेष्ठी पद, उसकी वीतरागता का क्या कहना?

ऐसे वीतराग गुरुओं को छोड़कर अज्ञानी-कुगुरुओं के सेवन करने से तीव्र मिथ्यात्व का महान पाप होता है; अतः जिनको पाप का भय हो, भव का भय हो, वे पापपोषक ऐसे कुगुरु की श्रद्धा छोड़ो – ऐसा करुणापूर्वक श्रीगुरुओं का उपदेश है कुगुरु की सेवामें रत श्रेणिक राजा ने सच्चे वीतरागी गुरु की विराधना करके नरक की दीर्घ आयु बाँध ली; और बाद में जब सच्चे गुरु को पहचानकर उनका सेवन किया तब आत्मज्ञान प्राप्त करके तीर्थकर नामकर्म भी बाँधा; और नरक की दीर्घ आयु में से असंख्य वर्ष का छेद कर दिया। अतः हे जीव! सच्चे गुरु का स्वरूप पहचानकर गुरु की मान्यता को तुम छोड़ दो जिससे तुम्हारा हित होगा।

गृहीत मिथ्यात्व दशा में श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनिराज के ऊपर उपसर्ग किया, और नरक की आयु बाँधी। वे यशोधर मुनिराज उपसर्ग दूर होने तक समताभाव से जैसे के वैसे ध्यान में बैठे रहे; और बाद में उपसर्ग दूर होने पर श्रेणिक को भी धर्मवृद्धि कही। जैन मुनिराज की ऐसी क्षमा तथा वीतरागता देखकर श्रेणिक को भी जैनधर्म की श्रद्धा हुई उसके सम्यग्दर्शन प्रगट किया, और व्रत या त्याग न होने पर भी तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया। इसप्रकार मिथ्यात्व के त्याग से जीव का हित होता है। बाह्य परिग्रह छोड़कर भी अन्तर में से मिथ्यात्व न छोड़ा तो जीव का हित न हुआ। एक शुभ विकल्प से भी जीव को धर्म का लाभ मानना सो मिथ्यात्व है, वही बड़ा परिग्रह है और वही पाप का मूल है। मिथ्यादृष्टि जीव बाहर से तो त्यागी हुआ, परन्तु अन्तर में अपने निष्परिग्रही (रागरहित) आत्मस्वभाव को अनुभव में न लिया और राग की पकड़ न छोड़ी, इस कारण वह मोक्षमार्ग में न आया, किन्तु संसारमार्ग में ही रहा। प्रवचनसार गाथा २३६ की टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि जिनके

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणवाली दृष्टि नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं है ऐसे जीवों को स्व-पर के विभाग का अभाव होने से, वे काया और कषायों के साथ एकत्व का अध्यवसाय करते हैं, उन जीवों को विषयों की अभिलाषा का त्याग नहीं है, अतः वे छः जीव निकाय के घातक हैं, और ऐसा होने से मोक्षमार्ग के कारणरूप संयम उन्हें नहीं होता। काया और कषाय (—अशुभ या शुभ) उनसे भिन्न अपने उपयोगस्वरूप आत्मा का अनुभव किये बिना मोक्षमार्ग नहीं होता; और ऐसे मोक्षमार्ग के बिना गुरुपद नहीं होता।

गुरु तो अपने वीतरागस्वरूप को साधने में लीन हैं। उनके अन्तर में मोहादि परिग्रह का त्याग होने से निमित्तरूप बाह्यपरिग्रह भी छूट गये हैं। अन्तर में रागादि को और बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह को ग्रहण करने की वृत्ति मुनियों को कभी नहीं होती। गुरु का स्वरूप इससे विपरीत मानना या वस्त्रादि परिग्रह सहित को गुरु मानकर पूजना सो कुगुरुसेवन है। गुरुपद अर्थात् मुनिदशा तो जिनलिंगी होती है।

प्रश्न :- कोई कुगुरु मिल जाय तो क्या करना?

उत्तर :- तो ऐसा जानना कि यह सच्चा गुरु नहीं है, वह स्वयं भी मिथ्याभाव से दुःखी है और उसका सेवन करनेवाला जीव भी मिथ्याभाव की पुष्टि से दुःखी है; — ऐसा समझकर हमें उसका सेवन छोड़ना। इसमें किसी का अपमान करने की या द्वेष करने की बात नहीं है, परन्तु अपने आत्मा को मिथ्यात्वादि दोषों से बचाने की बात है। सच्ची बात में भी किसी को दुःख लगता हो तो उसका भाव उसके पास रहा, इससे हमें क्या? यह तो सम्यक् भाव से स्वयं अपना हित कर लेने की बात है।

धरम में शरम नहीं होती, अर्थात् शरम से या लोकलाज से भी कुगुरुओं का सेवन धर्मी जीव नहीं करते। अपना हित चाहनेवाले मुमुक्षुजीव को दुनिया की स्पृहा नहीं होती, दुनिया क्या बोलेली — यह देखने को वे नहीं रुकते; दुनिया से डरकर असत् देव-गुरु-धर्म का सेवन वे कभी नहीं करते; प्राण चले जायें तो भी सच्चे देव-गुरु-धर्म से विपरीत किसी को वे

नहीं मानते। उनको अपने अन्तर में वीतरागता ही इष्ट है अतः बाहर में भी वीतरागता के ही पोषक देव-गुरु-धर्म का वे स्वीकार करते हैं; अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वभाव के सिवाय राग के किसी भी अंश को वे धर्म नहीं मानते, और बाह्य में राग के पोषक ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को वे नहीं मानते। इसप्रकार वीतरागमार्गी जीव निडर और निःशंक होकर आत्महित को साधते हैं। किसी कुगुरु को समाज के बहुत लोग मान रहे हैं और यदि मैं नहीं मानू तो दुनियाँ मुझे क्या कहेगी? और समाज में मैं अकेला हो जाऊँगा! – ऐसा भय धर्मी को नहीं होता। मात्र शस्त्रधारी या वस्त्रधारी ही कुगुरु होते हैं – ऐसा नहीं है, किन्तु जो वस्त्र-शस्त्ररहित नग्न-दिगम्बर होकर भी वीतरागमार्ग से स्पष्टतः विपरीत प्ररूपणा करते हैं वे भी कुगुरु हैं उनको भी धर्मी जीव नहीं मानते। भाई, यह तो तेरे हित के लिये बात है।

प्रश्न :- किन्तु किसी कुगुरु के साथ पहले का परिचय हो उसका क्या करना?

उत्तर :- पूर्व के परिचित हो तो भी कुगुरु का सेवन तो नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अहित का कारण है। जैसे पहले का छोटेपन का कोई साथी हो और वह अज्ञान से जहर खा रहा हो, तो क्या उस साथी के साथ आप भी जहर खा लेते हैं? – नहीं; (अपितु उसको निषेध करना चाहिए कि भाई, तुम जहर मत खाओ।) तुम जहर खा रहे हो तो मैं भी तुम्हारे साथ जहर खाऊँगा – ऐसा साथीपना नहीं होता; ऐसा जहर का साथीपना तो छोड़ने को ही होता है। वैसे मिथ्यात्वरूपी जहरवाला जो विपरीत मार्ग, उसको माननेवाले और उसका उपदेश देनेवाले कुगुरुओं की विनय या सेवा करने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है और भावमरण से आत्मा दुःखी होता है; अतः वह छोड़ने योग्य है; और वीतरागी देव-गुरु-धर्म के सत्संग से सच्चा श्रद्धा-ज्ञान करने योग्य है।

जैसे कुगुरु और सच्चे गुरु का स्वरूप दिखाकर कुगुरु का सेवन छोड़ने का कहा, वैसे कुदेव और सच्चे देव का स्वरूप पहचानकर कुदेव का

सेवन भी छोड़ने योग्य है; क्योंकि कुदेव का सेवन भी मिथ्यात्व की पुष्टि करनेवाला है।

मूर्ख अज्ञानी लोग राग-द्वेष के कार्य सहित और गदा-चक्र-धनुष-बाण आदि चिह्नों के सहित ऐसे रागी-द्वेषी मनुष्य को भगवान मानकर पूजते हैं सो कुदेव-सेवन है। राक्षसों को मारकर भक्तों की रक्षा करना – ऐसा कार्य वीतराग भगवान नहीं करते, भगवान को किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। वीतराग होने के पहले राजा-महाराजा जैसी सरागदशा में ऐसा भाव हो सकता है, किन्तु उस वक्त वे देवरूप से पूजनीय नहीं हैं। जब वे सरागभाव छोड़कर, मुनि होकर वीतराग-सर्वज्ञ हुए तभी वे देव हुए; और ऐसे सर्वज्ञ वीतरागदेव ही पूजनीय है। वीतराग को वीतरागस्वरूप से न पहचानकर कोई सराग मान ले तो उसकी मान्यता में कुदेव का सेवन होता है, परन्तु इससे वीतराग भगवान तो कहीं सरागी नहीं हो जाते। सर्वज्ञ-वीतरागदेव की पहचान करनेवाले को अपने सच्चे भाव का लाभ है, और सच्चे देव का स्वरूप विपरीत मानने वाले को अपने ऊँधे भाव से नुकसान है। स्वयं भगवान तो अपने वीतराग स्वरूप में ही विराजमान हैं। जैसे कि – भगवान महावीर, भगवान रामचन्द्रजी, हनुमानजी, भीम वगैरह – वे कोई कुदेव नहीं हैं, वे तो सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा होकर मोक्ष में विराजमान हैं, अब उन्हें अवतार नहीं है; ऐसे स्वरूप से उनको पहचानकर पूजनादि करना योग्य है, और वह सुदेवपूजन है, परन्तु वे परमात्मा सर्वज्ञ-वीतराग होने पर भी कोई उनको रागी-द्वेषी-शस्त्रधारी-वस्त्रधारी आदि विकृत स्वरूप से माना तो वे लोग सच्चे देव का स्वरूप नहीं जानते, राम वगैरह भगवान को वे नहीं पहचानते और अपने अज्ञान से कुदेव का पूजन करते हैं; वे भगवान तो सच्चे भगवान ही हैं, किन्तु इनको उसकी पहचान नहीं है। इसप्रकार अरिहन्तदेव (राम-हनुमान आदि भी अरिहन्त परमात्मा होकर मोक्ष गये हैं – वे सब अरिहन्तदेव) सर्वज्ञ

वीतराग परमात्मा हैं, तो भी कोई अज्ञानी उनको वस्त्रादि परिग्रह सहित मानकर पूजे तो इससे कहीं अरिहन्त भगवान दोषित नहीं हो जाते, परन्तु उनका स्वरूप विपरीत माननेवाले को मिथ्यात्व होता है, और उनकी मान्यता में कुदेवसेवन होता है।

अहा! जो भगवान का स्वरूप भी विपरीत माने वे आत्मा के शुद्धस्वरूप को कहाँ से पहचानेगा? जीव अपने इष्ट देव का जैसा स्वरूप माने वैसा स्वयं भी होना चाहे, अतः देव के स्वरूप में जिसकी भूल होगी उसको अपने स्वरूप में भी भूल होगी। रागी-द्वेषी जीव स्वयं अपने भव-भ्रमण का अन्त नहीं कर सकते तब फिर उनकी उपासना से अन्य जीव कैसे तिरेगा? रागी-अज्ञानी को भजने से तो रागी की ही पुष्टि होती है। देव अर्थात् इष्टपद को प्राप्त भगवान, इष्ट पद तो वीतरागता और सर्वज्ञता है, क्योंकि जीवों को सुख इष्ट है और पूर्ण सुख तो वीतरागता तथा सर्वज्ञता में ही है; अतः सर्वज्ञ-वीतराग के सिवाय अन्य कोई इष्टदेव नहीं है। अहा! सर्वज्ञ-वीतरागदेव, जिन्होंने दिव्यध्वनि में भी इच्छा रहित सर्वज्ञस्वभाव और वीतरागी मोक्षमार्ग दिखाया, – उनके सिवाय रागी-द्वेषी कुर्लिंगी को जो पूजते हैं वे तो बड़े मूर्ख हैं, वे मिथ्यात्व की पुष्टि से अनन्तकाल तक भवभ्रमण में रुलेंगे और दुःखी होंगे। अतएव संसार-दुःख का जिनको भय हो और आत्मा के सुख को जो चाहते हों वे कुदेव का सेवन छोड़कर, सर्वज्ञ वीतरागदेव को पहचानो और बड़ी भक्ति से उनको सेवन करो।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी प्रवचनसार में कहते हैं कि – अरिहन्तं देव के शुद्ध-द्रव्य-गुण-पर्याय को जो जीव पहचानते हैं वे अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप को भी पहचानते हैं और उनके मोह का क्षय होकर सम्यग्दर्शन होता है। अहो, अरिहन्त भगवान के आत्मा का द्रव्य शुद्ध चेतनामय, उनके गुण भी शुद्ध चैतन्यरूप और उनकी पर्याय भी शुद्ध चेतनारूप, उनमें कहीं भी राग नहीं है; जैसा उनके आत्मा का शुद्धस्वभाव है; परमार्थ से

वैसा ही इस आत्मा का शुद्धस्वभाव है – ऐसी पहचान करने से रागादि परभावों के साथ एकत्वबुद्धि छूटकर परिणति अंतर-स्वभाव में एकाग्र होती है, शुद्धस्वभाव में पर्याय की एकता होने पर मोह का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। उस जीव ने ही अरिहन्तदेव के परमार्थ स्वरूप को पहचाना और उसने ही सच्चे भाव से ‘णमो अरिहन्ताणं’ किया।

अरिहंत की पहचान के बिना उनका जो नाम लेते हैं उनको तो नामनिक्षेप भी सच्चा नहीं है; क्योंकि सच्चा निक्षेप नयपूर्वक होता है और नय सम्यक् श्रुतज्ञानपूर्वक ही होता है। अज्ञान में कोई नय या निक्षेप सच्चा नहीं होता। सर्वज्ञ की मूर्ति में भी सर्वज्ञदेव की स्थापना का निक्षेप है, अतः वह भी राग-द्वेष के चिह्नों से रहित ही होती है (जिन प्रतिमा जिनसारखी...) जिसके देखने से सर्वज्ञ वीतराग का स्वरूप लक्ष में आवे – ऐसी मूर्ति जैनशासन में मान्य है, और उसमें सच्चा स्थापना निक्षेप होता है। सारे विश्व को जाननेवाले, परन्तु करनेवाले नहीं किसी का, ऐसे सर्वज्ञ-वीतरागदेव और उनकी प्रतिमा पूज्य है, उनसे विरुद्ध कोई पूज्य नहीं है। इतनी पहचान करे तब गृहीतमिथ्यात्व छूटे, और आत्मा की पहचान करे तब अगृहीत मिथ्यात्व छूटकर सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न :- प्रतिमा तो अजीव पदार्थ से निर्मित है, तो क्या आप उनको जीव मानते हो?

उत्तर :- प्रतिमा अजीव होते हुए भी ज्ञानबल से उसमें भगवान की स्थापना है, और भाव निक्षेप से भगवान कैसे होते हैं उसका धर्मी को ज्ञान है। अतः वे भगवान का स्मरण करके और प्रतिमाजी में उनकी स्थापना का संकल्प करके भक्ति-विनय-वंदन-पूजन करते हैं; वह योग्य है। उसमें यद्यपि शुभराग है; परन्तु वह मिथ्यात्व नहीं है; क्योंकि उसमें

देव का स्वरूप तो विपरीत नहीं माना है। जिनको भाव-निक्षेप से भगवान के स्वरूप की पहचान नहीं है वे लोग स्थापना निक्षेप भगवान का भी निषेध करते हैं; उन्होंने भगवान को पहचाना ही नहीं है। अहा, धर्मात्मा के अंतर में तो सर्वज्ञ परमात्मा बस रहे हैं, उनके श्रद्धा-ज्ञान में परमात्मा विराजते हैं, इसलिये उनके भक्ति आदि के भाव भी अलौकिक होते हैं... स्थापना-निक्षेप भी उन्हें ही सच्चा होता है। जैसे पिता के प्रति बहुमानवाला पुत्र चित्र में उनका स्थापन करके कहता है कि 'ये मेरे पिताजी हैं' – वहाँ उसको सच्चे पिता का एवं स्थापनारूप पिता का – दोनों का ख्याल है, वैसे सर्वज्ञपद जिनको प्रिय है ऐसे साधक जीव, अपने परमप्रिय धर्मपिता सर्वज्ञदेव को पहचानकर प्रतिमा वगैरह में भी उनकी स्थापना करके बहुमान करते हैं कि 'ये मेरे भगवान, ये मेरे धर्मपिता, हम जिनदेव के पुत्र हैं।' – इसप्रकार इष्टदेव के प्रति धर्मी जीव को बहुमान आता है।

देवगति के जीवों को भी देव कहने में आता है, परन्तु ये देव वीतराग-सर्वज्ञ नहीं हैं। जगत् में अरिहंतदेव और सिद्धदेव यही सच्चे वीतराग-सर्वज्ञ देव हैं, वे ही इष्ट परमेश्वर और परमात्मा हैं। अरे, मूर्ख लोग ऐसे सत्य परमात्मा को भूलकर पीपल आदि वृक्ष को तथा सर्प-बंदर आदि पशु को भी देव समझकर पूजते हैं, और भी अनेक प्रकार के रागी-द्वेषी कुदेवों को देव मानकर पूजने लग जाते हैं; अरे, और तो क्या! सच्चे वीतरागी देव में भी राग-द्वेषरूप कार्य (हिंसा, आहारादि) होने का मानकर उनका स्वरूप विकृत बना देते हैं; उन सबको देवमूढ़ता है, उनमें बहुत अविवेक और मिथ्यात्व की तीव्रता है। देव-गुरु का सच्चा स्वरूप व्यवहार से पहचाने, उनके कहे हुए वीतरागधर्म की श्रद्धा करे, और बाद में वैसे अनुभव करने तक जबतक न पहुँचा हो तबतक जीव के मिथ्यात्व की मंदता रहती है; परन्तु जिनकी समझ ही विपरीत है, और देव-गुरु का सच्चा स्वरूप भी जो न जानते हैं – न मानते हैं, विपरीत मानकर कुदेव-

कुगुरु-कुधर्म का सेवन करते हैं, उनके तो मिथ्यात्व की तीव्रता है। ऐसे जीवों को अत्यन्त करुणापूर्वक समझाते हैं कि हे भाई! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो भगवान अरिहंतदेव के सिवाय अन्य किसी भी देव को मानना छोड़ दो, हित का सच्चा मार्ग दिखलानेवाले भगवान अरिहंत ही हैं। ऐसे वीतराग भगवान को छोड़कर मोही जीवों को कौन भजेगा? – जो स्वयं तीव्र मोही होगा वो ही उनको भजेगा; किन्तु जो विवेकी अपना हित चाहनेवाला है वह तो किसी भी कुदेव को भजेगा ही नहीं। भाई! मोही जीव तो तेरे जैसा ही है, उसको भजने से तो तेरा मोह ही पुष्ट होगा... और तू संसार में डूबेगा। अरे, जिस परम सुखरूप इष्टपद को तुम चाहते हो वैसा अपने इष्टदेव को तो पहचानो। जो अपने इष्टदेव को भी न पहचाने उसकी मूर्खता का क्या कहना?

इसप्रकार कुदेव और सच्चे देव के स्वरूप की पहचान कराकर कुदेव का सेवन छोड़ने का उपदेश दिया। अब कुगुरु और कुदेव की तरह कुधर्म का भी सेवन छोड़ने के लिये उसका स्वरूप दिखाते हैं।

रागादिक भावहिंसा और त्रस-स्थावर के घातरूप द्रव्यहिंसा; – ऐसी हिंसा सहित मिथ्या क्रिया में धर्म मानना वह कुधर्म है। ऐसे कुधर्म का सेवन सो तीव्र मिथ्यात्व है। जैनधर्म तो वीतरागता का ही पोषक है, वीतरागभाव ही धर्म है। जो यज्ञादिक में पंचेन्द्रिय पशु को होमकर उसमें धर्म माने; अपने शरीर का माँस काटकर दूसरे माँसाहारी को खिलाने में दानधर्म माने, नदी-समुद्र आदि में स्नान करने से धर्म माने यह सब कुधर्म का सेवन है, उसमें हिंसा की पुष्टि है। यदि त्रस जीवों की हिंसा से भी धर्म होगा तो फिर नरक में कौन जायगा? त्रसहिंसा के तीव्र पाप का फल तो नरक ही है, उसमें धर्म कैसा? जबकि शुभराग को धर्म माननेवालों को भी सच्चे धर्म की पहचान नहीं – तब फिर पाप में धर्म माननेवाले की तो बात ही क्या? शुभराग से स्वर्ग मिलता है; मोक्ष नहीं; तो मोक्ष

वीतरागभाव से ही मिलता है, अतएव वीतरागभाव ही धर्म है; और वीतरागभाव शुद्धात्मा के अनुभव से ही होता है, अतः शुद्धात्मा का अनुभव ही धर्म है।

वीतरागी देव-गुरु की पूजादि में शुभभाव है; उसमें यद्यपि अल्प हिंसा है; परन्तु एक तो उसमें हिंसा का अभिप्राय नहीं है, दूसरा यह कि श्रावक के द्वारा स्थावर हिंसा का निवारण नहीं हो सकता, और तीसरा यह कि उस हिंसा को वे धर्म नहीं मानते। उसमें हिंसा अल्प है और शुभभाव अधिक है ('सावद्य लेशो बहु पुण्यराशि') अतः अशुभ राग से बचने के लिये पूजन-भक्ति का शुभभाव योग्य ही है। उसमें हिंसा का या राग-द्वेष की पुष्टि का अभिप्राय नहीं है, परन्तु वीतरागता का ही बहुमान व अनुमोदन है; उस क्रिया को अहिंसा की अनुबन्धनी कही गई है। स्थावर हिंसा का जिनमें परिहार नहीं हो सकता, किन्तु त्रसहिंसा से और अशुभपरिणामों से जो बचती है ऐसी शुभक्रियाएँ, पूजा आहारदानादि, गृहस्थ भूमिका में होती है बाद में मुनिदशा में शुद्धोपयोग होने पर ऐसा शुभराग भी छूट जाता है। जो गृहस्थ अपने परिणामों का विवेक न करके चाहे जैसे हिंसाकार्य में प्रवर्तने लग जाय – उसकी यह बात नहीं है; रात्रि को चाहे जैसा आरम्भ-समारम्भ, या जिसमें त्रस जीवों का निकंदन नजरों दीख पड़ता हो – ऐसे कार्य तो गृहस्थ को भी नहीं करना चाहिए; रात्रि के समय भोजन या पूजनादि कार्य भी वह न करें। सब तरह का विवेक होना चाहिए। भाई, सर्वज्ञ के मार्ग में तो जिस किसी भी तरह अपनी कषाय मिटे और वीतरागता हो ऐसे विवेक से प्रवर्तन करना चाहिए। अपने परिणाम को देखकर, जैसे अपने को वीतराग-विज्ञान का लाभ हो ऐसा आचरण करना चाहिए। धर्म के नाम पर जिसमें त्रसहिंसा होती हो या किसी प्रकार की हिंसा को धर्म मनाया जाता हो – ऐसे कुमार्ग को कुधर्म को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। वह कुमार्ग तो विषय-कषायों का पोषक

है, उसके सेवन में जीव का बहुत अहित है। हे भाई! तुम सच्चे मार्ग को तो पहचानो – कि जिसके सेवन से तुम्हारा हित हो।

देव-गुरु-धर्म की पहचान में जिसकी भूल है और विपरीत का जो सेवन करता है उसको गृहीतमिथ्यात्व है; और उस गृहीतमिथ्यात्व को छोड़कर जो सच्चे देव-गुरु का सेवन करता है, परन्तु जीवादि तत्त्वों के यथार्थ निर्णय में जिसकी भूल है उसको भी अबतक अगृहीत मिथ्यात्व है; सच्चे देव-गुरु-धर्म को पहचानकर और उनसे प्रतिपादित जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप पहचानकर श्रद्धा करने से, गृहीत एवं अगृहीत दोनों मिथ्यात्व छूटकर अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है; वह महान कल्याण का करने वाला है।

इस प्रकार ९ से १२ चार गाथाओं में कुगुरु-कुदेव-कुधर्म के सेवनरूप गृहीतमिथ्यादर्शन का स्वरूप दिखलाकर उसके त्याग का उपदेश दिया; अब गृहीतमिथ्यादर्शन के सहकारी गृहीतमिथ्याज्ञान का स्वरूप दिखलाकर उसके भी त्याग का उपदेश १३वीं गाथा में करेंगे।

गृहीत-मिथ्याज्ञान का स्वरूप और उसके त्याग का उपदेश

गृहीत मिथ्यादर्शन के साथ गृहीत मिथ्याज्ञान के भी त्याग का उपदेश देते हैं –

(गाथा-१३)

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक-पोषक अप्रशस्त।

कपिलादि रचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेन त्रास ॥१३॥

आत्मा को जो दुःख का कारण है उसे छोड़ने की बात चल रही है। दुःख का कारण दूसरा कोई नहीं है, परन्तु जीव का अपना मिथ्याभाव ही दुःख का कारण है। द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु अनेकान्तरूप है; उसको नहीं जाननेवाले अज्ञानियों के द्वारा रचित जो शास्त्र हैं वे सब एकान्तवाद से दूषित हैं एवं विषय-कषाय के पोषक हैं; तथा अप्रशस्त हैं; अच्छे नहीं

हैं किन्तु जीव का अहित करनेवाले हैं, अतः वे कुशास्त्र हैं; और उनका अभ्यास, उनकी मान्यता उनको सच्चा समझकर वांचन-श्रवण करना — ये सब कुज्ञान हैं; वह गृहीत-मिथ्याज्ञान है, और वह जीव को बहुत त्रास देने वाले हैं; अतः उनका सेवन छोड़ देना चाहिए।

वीतराग-सर्वज्ञ अर्हन्तदेव के द्वारा उपदिष्ट जो अनेकांतमय वस्तुस्वरूप; उससे विपरीत कहनेवाला कोई भी शास्त्र दुनिया में चाहे जितना प्रसिद्ध हो और किसी का भी बनाया हुआ हो तो भी, वह कुशास्त्र है। निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के अनन्त जीवों में तो शास्त्र पढ़ने का ज्ञान ही नहीं है, ज्ञान का इतना क्षयोपशमभाव ही उनको नहीं है। अरे जीव! अब तेरे को ज्ञान का विकास होकर वांचन जितनी बुद्धि मिली; और तू यदि विषय-कषाय के पोषक, राग के पोषक, अज्ञान के पोषक ऐसे कुशास्त्रों में ही बुद्धि का दुरुपयोग करेगा तो तेरी यह बुद्धि दुर्बुद्धि है, मिथ्याबुद्धि है। अतः हे भाई! वीतरागदेव के मार्ग में आकर तू अपनी बुद्धि यथार्थ तत्त्व की समझ में जोड़, जिससे तेरा कल्याण हो।

अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष-संपूर्ण ज्ञान से जगत् को साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि जगत् में भिन्न-भिन्न अनन्त जीव हैं; प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूपी है और अपने-अपने अनंत धर्म सहित है; जीव और अजीव सभी पदार्थों में अपने-अपने स्वाधीन अनन्त गुण-पर्याय हैं; उनका कोई कर्ता नहीं है; स्व-पर को जानने का जीव का स्वभाव है; जानने में राग नहीं आता, अतएव आत्मा वीतराग-विज्ञान का घन है — ऐसा जानकर अनुभव करे तब अनादि का अज्ञान मिटकर सम्यग्ज्ञान होता है।

ज्ञान का काम है — जानना। राग-विकल्प करना यह काम ज्ञान का नहीं है। निर्विकल्प होकर ऐसा ज्ञानस्वभाव अनुभव में लेते ही रागादि परभावों का कर्तृत्व छूट जाता है, और वीतरागी आनन्द का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव सहित आत्मा को जाने तब ही आत्मा की सच्ची पहचान होती है और तब ही अगृहीत मिथ्यात्व मिटता है।

अरे, अज्ञानी के बनाये हुए नास्तिकता के पोषक ऐसे कुशास्त्रों का जो सेवन करता है, इस जीव को ईश्वर ने बनाया – ऐसी पराधीनता माननेवाले शास्त्रों का जो सेवन करता है, युद्ध वगैरह के उपदेशक शास्त्रों का जो सेवन करता है, उसको तो कुज्ञान का सेवन है; तदुपरांत, जैन के नाम पर रचे गये शास्त्रों में से भी जिसमें वीतरागी देव-गुरु-धर्म का स्वरूप विपरीत दिखता है, जिसमें सर्वज्ञ देव को भी खान-पान कहा हो, गुरुमुनि को वस्त्रादिसहित कहा हो, और सम्यग्दर्शन के बिना अकेले राग से भव का छेद होने का कहा हो, ऐसे कुशास्त्र के सेवन में गृहीत मिथ्याज्ञान है, और वह भयंकर भवदुःख देनेवाला है, इसलिए ऐसे कुशास्त्रों का सेवन छोड़ देना चाहिए; और जिनमें देव-गुरु-धर्म का तथा आत्मा के हित का यथार्थ स्वरूप समझाया हो – ऐसे वीतरागी शास्त्रों का सत्यस्वरूप समझकर सम्यग्ज्ञान करना चाहिए, यही परम हित का कारण है –

‘ज्ञानसमान न आन जगत में सुखको कारन।

इह परमामृत जनम-जरा-मृत रोग निवारन॥’

ऐसा आगे चौथी ढाल में कहेंगे।

जिनवाणीरूप वीतरागी शास्त्र निजस्वरूप का ऐसा निर्णय कराते हैं कि मैं ज्ञान हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरी क्रिया है। राग-द्वेष को ज्ञान नहीं कहते। जैसे सूर्य की किरण में अन्धकार नहीं है वैसे ज्ञानसूर्य की किरण में रागद्वेष नहीं है; जैसे केवलज्ञान में राग नहीं है वैसे मतिश्रुतज्ञान में भी राग नहीं है; ज्ञान तो ज्ञान ही है, ज्ञान राग नहीं है। राग को जानते समय भी जो ज्ञान है वह तो ज्ञान ही है, और राग है सो राग ही है; दोनों भिन्न हैं, एक नहीं हो गये – अहा! ऐसा भेदज्ञान वही सच्चा ज्ञान है। ‘भेदज्ञान सो ज्ञान है, बाकी बुरो अज्ञान।’

मतिश्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों की जाति एक ही है। यद्यपि मतिश्रुतज्ञान की ताकत अल्प है, वह अल्पकाल रहता है और अल्प ही जानता है, जबकि केवलज्ञान की शक्ति अनन्त-अपार है। वह अनन्तकाल

तक रहनेवाला है और सर्व को जानता है, – इतना फर्क रहते हुए भी दोनों ज्ञान जाननस्वरूपी चेतनामय ही हैं; इनमें अधूरा और पूरा – ऐसा भेद भले हो, किन्तु स्वरूप में भेद नहीं है। एक ज्ञान रागवाला और दूसरा ज्ञान राग से रहित – ऐसे अलग-अलग दो जाति के तो ज्ञान नहीं हैं; सभी प्रकार के ज्ञान रागरहित ही हैं, राग से भिन्न ही हैं; चाहे छोटा मतिज्ञान हो या बड़ा केवलज्ञान हो – किसी में भी राग घुस नहीं सकता। राग तो ज्ञान से बाहर ही रहता है। भाई, ऐसे तेरे ज्ञान को एकबार निर्णय में तो ले। ऐसा ज्ञानस्वरूप जो दिखावे वही शास्त्र सच्चा; और जिसने ऐसा ज्ञानस्वरूप अनुभव में लिया उसी का शास्त्रज्ञान सच्चा। यही सत्शास्त्रों का रहस्य है कि पर से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव करना। सभी शास्त्रों का निचौड़, सभी शास्त्रों का रहस्य ज्ञानस्वरूप के अनुभव में ही समा जाता है, इसी को 'ज्ञानचेतना' कहते हैं। ऐसी ज्ञानचेतना से ही अनादि का अज्ञान नष्ट होता है। इससे विपरीत माननेवाले के अन्तर में सुशास्त्र के रहस्य का परिणामन नहीं हुआ है।

जिनशास्त्र तो वीतरागविज्ञान के ही पोषक हैं; परन्तु जिसके अभिप्राय में ही मिथ्यात्व हो और उसको वह छोड़ना न चाहे तो शास्त्र उसे क्या करे? जो जीव वीतरागी शास्त्रों को पढ़कर भी अपनी कुमति नहीं छोड़ता उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता; – वास्तव में तो उसने शास्त्र पढ़ा ही नहीं है; क्योंकि शास्त्र का सच्चा वाच्यभाव उसने नहीं जाना। शास्त्र क्या दिखाते हैं? शास्त्र पर से भिन्न और अपने गुण-पर्यायों से एकत्वरूप ऐसा ज्ञानस्वभाव दिखाता है; इसको जानकर परभावों से भिन्न ज्ञानस्वभावरूप परिणति का होना यही शास्त्र का सार है, यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है। उसके साथ जो व्यवहार-रागादि होते हैं वह जानने योग्य हैं, आदरने योग्य नहीं; आदरने योग्य अर्थात् अनुभव करने योग्य परम शुद्ध ज्ञायकभाव ही है; उसमें जो एकाग्र हुआ उसको रागरूप व्यवहार नहीं रहता; निर्मलपर्यायरूप आत्मव्यवहार कराता है। अहो, जिनागम सर्वोत्कृष्ट परम

भाव का अनुभव करता है। – ‘रचना जिन-उपदेश की सर्वोत्कृष्ट तीनों काल।’ कोई भी वीतरागशास्त्र आत्मा में सन्मुखता कराते हैं, भूतार्थस्वभाव का अनुभव कराते हैं।

प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक ऐसे अनन्त स्वभाव से सहित है, उसे अनेकान्त कहते हैं। ऐसी अनेकान्तरूप वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानना अथवा सर्वथा अपरिणामी मानना सो मिथ्यामत है। वस्तु के सर्वांग को अर्थात् उसके सभी धर्मों को न मानकर एक अंग को ही एकान्त पकड़कर उसको ही मान लेने से वस्तु की सिद्धि नहीं होती। छह अंधे मनुष्य जैसे हाथी की पूँछ, सूँड, कान, पग वगैरह एक ही अंग को अलग-अलग पकड़ कर उसको ही हाथी मान बैठे, उन्होंने सच्चे हाथी को नहीं जाना; वैसे अज्ञानी अंधे लोग एकसाथ अनन्त धर्मवाली वस्तु को न जानकर, नित्यता-अनित्यता आदि एक ही धर्म को अलग अलग पकड़कर उसरूप ही वस्तु को मान लेते हैं, सच्ची वस्तु को वे नहीं जानते। वस्तु नित्यता के बिना टिक नहीं सकती और अनित्यता के बिना उसमें परिणामरूप कार्य नहीं हो सकता; इस प्रकार अनेकान्त से ही वस्तु की सिद्धि है; अनेकान्त में तो गम्भीर रहस्य भरे हुए हैं; वह वस्तु के अनेक धर्मों को साथ ही साथ रखकर यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रसिद्ध करता है; ऐसे वस्तुस्वरूप को प्रसिद्ध करे वही शास्त्र सच्चा; और ऐसे वस्तुस्वरूप को जो जाने वही सच्चा ज्ञान है।

जो शास्त्र विषय-कषाय के पोषक हों, युद्ध-हिंसा आदि की अनुमोदना करनेवाले हों, जीव को पराधीन कहनेवाले हों, और राग से या इन्द्रियज्ञान से धर्म मनाते हों, तो वे भी कुशास्त्र हैं, उनकी मान्यता से कुज्ञान की पुष्टि होती है। स्व-विषयरूप जो पूरा अतीन्द्रिय ज्ञानमय वीतरागस्वरूप आत्मा, उसका स्वरूप कुशास्त्र नहीं दिखा सकते। अतः ऐसे कुशास्त्र अप्रशस्त हैं, बुरे हैं, सत्य सिद्धान्त से विरुद्ध हैं और जीव का अत्यन्त अहित करनेवाले हैं; इसलिये अपना हित चाहनेवाले जीवों को उनका सेवन छोड़ देना चाहिए।

अहो, सम्यग्ज्ञान की महिमा की लोगों को पहचान ही नहीं है। लोगों का अधिक भाग तो अज्ञानपूर्वक धर्म के नाम पर राग को ही चारित्र समझकर मिथ्याचारित्र का सेवन कर रहा है; परन्तु सम्यग्ज्ञान के बिना सच्चा चारित्र कदापि नहीं होता और सम्यग्ज्ञान से रहित क्रियाएँ जीव को हितकर नहीं होतीं। कौन शास्त्र सच्चा है और कौन शास्त्र मिथ्या है – जिसको यह भी नहीं मालूम, और सच्चे शास्त्र का भी अर्थ समझना जिसको नहीं आता, जो अपनी कल्पना अनुसार विपरीत अर्थ करके अज्ञान को दृढ़ करता है, उसने भी गृहीत अज्ञान को छोड़ा नहीं है भाई! अज्ञान महान दुःखकर है, ऐसा जानकर अब तो उसका सेवन छोड़ो। ऐसा सुअवसर बारबार नहीं आता।

अहो, यह तो सम्यग्ज्ञान सहित वीतरागता का मार्ग है... यही परम हितकर है। 'मंगलमय मंगलकरन वीतराग-विज्ञान' – वीतराग विज्ञान के बिना जीव का किसी भी प्रकार से हित नहीं होता; अरिहन्तादि इष्ट पद की प्राप्ति जीव को वीतरागविज्ञान से ही होती है। और ऐसे वीतरागविज्ञान का यथार्थ उपदेश सर्वज्ञदेव की वाणी में और ज्ञानी सन्तों के द्वारा रचित शास्त्रों में ही है। कुमति-अज्ञानीओं के द्वारा रचित कुशास्त्रों में वीतरागविज्ञान का सच्चा उपदेश नहीं होता, वे तो राग-द्वेष-अज्ञान के पोषक हैं।

गुण-गुणी (ज्ञान और आत्मा) सर्वथा जुदे नहीं हैं तो भी उनको जो जुदा माने, जैसे – ज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता तो भी बाह्यपदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति माने तो वह जीव गुण-गुणी को सर्वथा जुदे मानता है, – ऐसी विपरीत मान्यता का पोषक शास्त्र सो भी कुशास्त्र है। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान बाहर से नहीं आता।

यह जगत् किसी का बनाया हुआ नहीं है, जगत् के जड़-चेतन सभी पदार्थ अकृत्रिम स्वयंसिद्ध हैं; और प्रत्येक वस्तु में अपने अपने गुण भी स्वयंसिद्ध हैं, कोई संयोग से उन गुणों की उत्पत्ति नहीं हुई। 'सब मिलकर

एक अद्वैत ब्रह्म हैं और दूसरा कुछ सत् है ही नहीं, अथवा ईश्वर इस जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता है' – ऐसा नहीं है, तो भी ऐसा मानना सो गृहीतमिथ्यात्व है, और ऐसा प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र, वे कुशास्त्र अज्ञान के पोषक हैं; वीतरागी ईश्वर का सच्चा स्वरूप उसने नहीं पहचाना।

सर्वज्ञ-अरिहंतदेव के भी कवल से आहार, निर्ग्रन्थ साधु के भी वस्त्र, भगवान को भी रोगादि मलमूत्र – इसप्रकार देवगुरु के सम्बन्ध में अत्यन्त विपरीत प्ररूपणा जिसमें हो वह भी गृहीत मिथ्याज्ञान के ही पोषक कुशास्त्र हैं, ऐसा समझना; और अपने हित के लिये उसका सेवन छोड़ना।

मात्र पर जीव की दया का शुभभाव अथवा आहारदान का शुभभाव यह राग है, उस राग से मोक्ष होने का कहना सो विपरीत कथन है। वीतरागी जैन सिद्धान्त में राग को तो बन्ध का ही कारण कहा है; शुभराग भी बन्ध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं। मोक्ष का कारण तो वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। रागरहित अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा उसके ही आश्रय से भव का अभाव होता है; राग के आश्रय से कभी भी भव का अभाव नहीं होता। सच्चे मुनि को आहारदान देने के फल में भोगभूमि की प्राप्ति कही गई है; किन्तु मोक्ष नहीं कहा। श्रेयांसकुमार आदि को तो आहारदान देते समय अन्तर में आत्मा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान था, वही मोक्ष का कारण हुआ है, – न कि आहारदान का शुभराग। अहा, वीतरागीशास्त्रों ने तो वीतरागमार्ग ही प्रकाशित किया है; जहाँ उपचरित कथन हो वहाँ भी वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग से अविरोद्ध आशय समझकर उसका अर्थ समझना चाहिये। व्यवहार पराश्रित है अतः वह त्याज्य हैं, निश्चय स्वाश्रित है अतः वह आदरणीय हैं। वीतरागी शास्त्रों के कथन में कहीं भी परस्पर विरोद्धता नहीं होती। शास्त्र को पढ़कर जो किसी भी तरह राग की या पराश्रयभाव की पुष्टि का अभिप्राय निकाले उसने शास्त्र का सच्चा अर्थ नहीं समझा। वीतराग शास्त्र तो पराश्रय को और राग को छुड़ानेवाला है, पोषनेवाला नहीं।

कोई अज्ञानी, प्रगटरूप से कुशास्त्र को भले न मानते हों, परन्तु सच्चे शास्त्र के नाम पर भी यदि कुशास्त्रों के जैसी ही मिथ्यामान्यता को पुष्टि करते हों तो उनके भी गृहीत-मिथ्याअज्ञान विद्यमान ही है। यही बात 'सत्तास्वरूप' में कहते हैं – सर्वज्ञ अरिहन्तदेव और अन्य कुदेव – उनके बीच में जो बड़ा अन्तर है इसकी पहचान के बिना, यदि कोई जीव अरिहन्तदेव को ही माने और दूसरों को किसी को भी न माने तो भी उनके गृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है। व्यवहार से देव के सच्चे स्वरूप की पहचान के बिना गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूटता; उसीप्रकार सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र के सम्बन्ध में भी समझ लेना।

परम सत्य वीतरागमार्ग के प्रकाशक सर्वज्ञ परमात्मा वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं; एक-दो या दस-बीस नहीं, अपितु लाखों सर्वज्ञ-अरिहन्त भगवन्त वहाँ विराजमान हैं; वहाँ बाह्य में गृहीतमिथ्यात्व की कोई प्रवृत्ति नहीं, होती, जैन के अतिरिक्त अन्य मत के मंदिर नहीं होते; जीवों के अन्तरंग अभिप्राय में विपरीतता हो यह दूसरी बात है, परन्तु बाह्य में प्रगटरूप से जैनमार्ग से विपरीत कोई मार्ग वहाँ नहीं चलता। यहाँ भरतक्षेत्र में तो वर्तमान में सर्वज्ञ का विरह, मुनिवरों के दर्शन की भी दुर्लभता, धर्म के विराधक जीवों की बहुलता और आराधक जीवों की अत्यन्त विरलता, तदुपरांत धर्म के नाम पर अनेक विपरीततायें चल रही हैं जैसे जल में आग लगे वैसे वीतराग-जैनधर्म के नाम पर देवगुरु-शास्त्र में भी बहुत विपरीतता लोगों में चल पड़ी है। उसमें से असत्य को भेदकर यथार्थ वीतराग मार्ग क्या है – यह समझकर मुमुक्षु जीवों को बहुत लगन से उसका सेवन करना चाहिए, और विपरीतता का सेवन सर्वथा छोड़ देना चाहिए। – जो अपना हित चाहता हो वह ऐसा करे। अपने सच्चे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से ही अपने को लाभ है।

जिसको देव-गुरु-धर्म के स्वरूप में भूल हो अथवा बन्धमोक्ष के कारण में भूल हो, उसकी तो मूलभूत भूल है; सर्वज्ञदशा, मुनिदशा इत्यादि उत्कृष्टदशा प्रगट होने पर कितनी शुद्धता होती है, कितना आस्रव-

बन्ध छूटता है और उसके निमित्त से बाह्य दशा कैसी होती है, उसको जो नहीं पहचानते और विपरीत मानते हैं उसे गृहीतमिथ्यात्व है। केवलज्ञान होनेपर शरीर भी दिव्य हो जाता है, और वहाँ ऐसी असाता का उदय नहीं रहता कि क्षुधा लगे या रोग हो जाय। मुनिदशा की पवित्र भूमिका में ऐसा तीव्र कषाय नहीं रहता कि दो बार खाना पड़े या वस्त्र पहनना पड़े। धर्म के जिज्ञासु को धर्म की प्रत्येक भूमिका का यथार्थस्वरूप शास्त्र-अनुसार समझना चाहिए; क्योंकि हित के कारणरूप ऐसे मूलभूत तत्त्वों में जिसकी भूल हो वह अपना हित नहीं साध सकते।

अरिहन्तदशा में केवली का आहार मानने से, या साधुदशा में वस्त्र मानने से नवतत्त्व में भूल होती है, क्योंकि – उस पवित्र वीतरागदशा में ऐसे आस्रव-बंध नहीं होते तो भी उसने माना, उस दशा में जो संवर-निर्जरा होती है उसको उसने नहीं जाना; मोक्ष होने के लिये कितने प्रमाण में संवर-निर्जरा होती है, तथा कितने प्रमाण में आस्रव-बंध छूट जाता है, उसको न पहचानकर उससे कम में मोक्ष मान लिया, अतः उसमें भी भूल हुई, मोक्ष के सच्चे कारण को उसने न पहचाना। जीव के साथ अजीव के संबंध की कितनी मर्यादा है और जीव की शुद्धपर्याय में कषाय का अभाव होने पर अजीव के साथ कितना सम्बन्ध छूट जाता है – वह भी उसने न जाना, अतः जीव-अजीव के ज्ञान में भी भूल हुई; जैसे कि वीतराग जीव को अजीव के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं होता कि वस्त्र या भोजन हो। इसप्रकार जिसके मूल तत्त्व में विपरीत मान्यता है उसके सभी तत्त्व में भूल हो जाती है। अतएव सर्वज्ञ-वीतरागदेव की परंपरा से रचित समयसारादि सत्य शास्त्र के अनुसार यथार्थ तत्त्व का निर्णय करके अज्ञान को मिटाना चाहिए।

इसप्रकार गृहीत मिथ्यादर्शन और गृहीत मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहकर उसके त्याग का उपदेश दिया। अब गृहीत मिथ्याचारित्र क्या है यह दिखाकर उसके भी त्याग का उपदेश करते हैं।

गृहीत-मिथ्याचारित्र का स्वरूप और उसके त्याग का उपदेश

जीव को मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र दुःख का कारण है, अतः उसके त्याग का उपदेश चल रहा है –

(गाथा-१४)

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह धरि करन विविधविध देहदाह।

आत्मअनात्म के ज्ञानहीन जेजे करनी तन करन छीन॥१४॥

जिनमें आत्मा अनात्मा का भेदज्ञान नहीं है, जिनमें ख्याति-लाभ-पूजादि की चाहना है, जो विविध प्रकार के देहदाहरूप है – शरीर को कष्ट अथवा पीड़ा करनेरूप या क्षीण करनेरूप हैं, अज्ञानी को ऐसी सब क्रियाएँ मिथ्याचारित्र हैं, ऐसा पहचानकर उसका त्याग करो और आत्महित के पंथ में लागो।

अन्य मत में जो मिथ्याक्रियाएँ होती हैं उनकी यह बात है। अज्ञानी ने द्रव्यलिङ्गी जैनसाधु होकर जो पंचमहाव्रतादि शुभक्रिया की – वह तो अगृहीत मिथ्याचारित्र में समाविष्ट हुई; यहाँ गृहीत की बात चल रही है। सच्चे देव-गुरु की जिसको पहचान नहीं है और जो कुधर्म का सेवन करता है उसकी क्रियाओं में ख्याति-प्रसिद्धि की भावना रहती ही है, क्योंकि अन्दर में चैतन्य की प्रसिद्धि तो हुई नहीं, अतः किसी न किसी प्रकार से बाह्य में प्रसिद्धि चाहता है। धर्मात्मा तो जानते हैं कि हमारा काम हमारे अन्तर में हो ही रहा है, तब फिर जगत् में प्रसिद्धि का काम ही क्या है? हमारे अनुभव को जगत् के लोग जाने या न जाने, उससे हमारे अन्तर के अनुभव का कोई सम्बन्ध नहीं है।

और भी, अज्ञानी को अन्तर में कषायों को क्षीण करना तो आता नहीं अतः बाह्य में देह की क्षीणता को अथवा देह के कष्ट को वह चारित्र समझता है। देह की क्रिया तो अजीव है, और चारित्र तो जीव की क्रिया है – ऐसे जीव-अजीव की भिन्नता का जिसको भान नहीं है उसको कभी

सच्चा चारित्र नहीं होता; वह भले ही देह को सुखा दे तो भी धर्म का किंचित् लाभ नहीं होगा। अज्ञानी कुदेवादि को मानता हुआ कदाचित् राग की थोड़ी सी मंदता करके शुभभाव करे, उसमें देह की भले कृशता हो; परन्तु कषाय की कृशता नहीं होती, कषायों की तो गृहीत मिथ्यात्व के कारण से पुष्टि होती है। कषायों से भिन्न शांतस्वरूप आत्मा को जाने बिना कषायें क्षीण नहीं होतीं। – उसके तप सो कुतप हैं’ उसकी क्रियाएँ गृहीत मिथ्याचारित्र हैं; – ऐसा जानकर अपने में यदि ऐसा भाव हो तो उसे छोड़ देना चाहिए।

भेदज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता। स्व-पर का भेदज्ञान करके उसकी तीव्र भावनापूर्वक स्व में स्थिर होने से चारित्र होता है। नियमसार गाथा ८२ में कहते हैं कि – जीव और कर्म की भिन्नता जानकर, उसके भेद के अभ्यास से जीव को मध्यस्थता होती है और इससे उसको चारित्र होता है। गाथा १०६ में भी कहते हैं कि जो जीव सदैव जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है वही ‘पचक्खाण’ को धारण करने में समर्थ होता है। इसप्रकार भेदज्ञान का अभ्यास ही चारित्र का मूल है।

ज्ञान-आनन्दस्वरूप सो आत्मा; और शरीर तथा रागादि अनात्मा; उनकी भिन्नता जो नहीं पहचानता उसको आत्मा की प्रसिद्धि (प्रगट स्वानुभूति) तो होती नहीं और लौकिक प्रसिद्धि के लिये वह तप वगैरह करता है; देह को क्षीण कर डालूं तो मेरा कल्याण हो जायगा – ऐसा वह देह की एकत्वबुद्धि से मानता है और इसलिए देह को पीड़ा उपजाने को अनेक प्रकार की मिथ्या क्रिया वह करता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि आत्मा में से कषाय कैसे छूटे, अतः उसकी सब क्रिया अज्ञान से भरी है, वे आत्मा को लाभ करनेवाली नहीं हैं, उनको तो ‘मोक्ष की कतरनी’ कही है; उन क्रियाओं में आत्मा की शांति नहीं है, परन्तु देह की दाह है; भीतर में कषाय की दाह है और बाह्य में देह की दाह है। भाई! चैतन्य की शांति के अनुभव बिना कषाय-अग्नि का दाह कैसे मिटेगा? जिसको

अपने अन्तर में अकषायी शांति का वेदन नहीं उसके अन्दर में कषाय की आकुलता ही भरी है।

जिससे आत्मा की वीतरागता पुष्ट हो, आनंद की वृद्धि हो और कषायें क्षीण हो उसको चारित्र कहते हैं; यह चारित्र आत्मा की दशा में रहता है, देह की क्रिया में या दिगम्बर शरीर में आत्मा का चारित्र नहीं रहता। हाँ, मुनिपनारूप चारित्र दशा के समय यद्यपि शरीर दिगम्बर ही रहता है, परन्तु चारित्र कहीं उस शरीर में नहीं रहता, चारित्र तो आत्मा में ही रहता है। आत्मस्वरूप में चरना, एकाग्र रहना सो चारित्र है; परन्तु देह से भिन्न आत्मा का जिसको ज्ञान नहीं है, कौनसी क्रिया देह की और कौनसी क्रिया आत्मा की, इसका जिसको विवेक नहीं है, उसको चारित्र कैसा? देह से भिन्न आत्मा को जाना ही नहीं तब वह चरेगा किसमें? – एकाग्र होगा किसमें? कदाचित् वह शुभराग करे, परन्तु वह तो धर्म नहीं है, चारित्र नहीं है; धर्म और चारित्र तो देह से भिन्न अपने चैतन्य की श्रद्धा करके उसमें स्थित रहना है। ऐसा चारित्र मोक्ष का कारण है। उसके बिना जीव चाहे जितना कायक्लेश करे तो भी आत्मा की पुष्टि उसमें नहीं है; देह की क्षीणता होना सो मेरी क्रिया है – ऐसी मिथ्या जड़बुद्धि से तो आत्मा के गुणों की दशा क्षीण होती है, कषायें क्षीण नहीं होती। देह की क्षीणता से आत्मा को क्या लाभ?

शुद्ध आत्मा में चैतन्य का प्रतपन (विशेष शुद्धता) सो तप है। शुभराग का विकल्प जिससे बाह्य है – अनात्मा है, ऐसे आत्मस्वरूप के भान बिना तप कैसा? तप में तो अन्तर के शांत अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में लीनता होने पर आहारादि की वृत्ति ही न हो, उसका नाम उपवास तप है। ऐसी शुद्धता के अनुभव के बिना अकेला रागरूप बाह्यतप करके अज्ञानी नववें ग्रैवेयक तक जा चुका उस समय उसको गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का तो त्याग था, क्योंकि उसके त्याग के बिना ग्रैवेयक में नहीं जा सकते। जो वस्त्र सहित साधुदशा मानता हो उसके तो मिथ्याचारित्र है, वह तो ग्रैवेयक में नहीं जा सकता;

अनेक प्रकार के गृहीत-मिथ्यात्वादि को छोड़कर, दिगम्बर साधु होकर, पंचमहाव्रतादि का पालन कर नववें ग्रैवेयक तक गया तो भी आत्मा के अनुभव के बिना जीव का संसार-भ्रमण न मिटा और मोक्षमार्ग न हुआ; क्योंकि उसने अगृहीतमिथ्यात्वादि का त्याग न किया और शुभराग के वेदन को चारित्र समझकर उसी के वेदन में रुका रहा, राग से भिन्न आत्मा का वेदन उसने न किया।

सम्यग्ज्ञान सहित वीतरागता में ही सच्चा 'ज्ञान-तप' (चैतन्य-प्रतपन) है; इसके बिना देहबुद्धिपूर्वक जो कुछ किया जाय वह सब 'बालतप' (अज्ञान तप) है, उससे धर्म का कोई लाभ नहीं, परन्तु उसको धर्म मानने में मिथ्यात्वरूप बड़ा नुकसान है। अहा! चारित्रदशा तो जगत्पूज्य, महान आनन्दरूप है, उसमें क्लेश कैसा? मोक्षमार्ग का चारित्र कैसा होता है – उसकी भी बहुत लोगों को खबर नहीं है; इस समय में तो ऐसे चारित्रवंत साधु के दर्शन भी दुर्लभ हैं। चारित्र तो उत्तमसंवर-निर्जरा है; चारित्र के धारी मुनिराज तो सिद्धप्रभु के पड़ौसी हैं।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, चारित्र उसका वीतरागभाव है, पुण्य-पाप आस्रव है, देह की चेष्टायें जड़ हैं – ऐसे तत्त्वों की भिन्नता के भान के बिना सच्चा चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शन से रहित सब प्रवृत्ति मिथ्या चारित्र है। सम्यक्चारित्र तो वीतरागभावरूप धर्म है। चारित्र के वीतरागी आनन्द के पास पुण्य को भी धर्मी जीव हेयरूप समझते हैं। जो प्रगटरूप से विषयों की भावनासहित तपश्चरणादि करते हैं उनको तो पाप का पोषण है, परन्तु शुभराग से तपश्चरणादि करें तो भी कहते हैं कि – यदि आत्मा का ज्ञान नहीं है तो अन्तर में कहीं मानादिक की वृत्ति 'विद्यमान ही है। जो नव ग्रैवेयक में जाते हैं उनके माने हुए देव-गुरु तो सच्चे हैं, और ये भी मायाचार के बिना उनको मानते हैं, परन्तु अनुभवरूप भेदज्ञान के बिना अन्तरंग अभिप्राय में राग की चाहना रह जाती है, सूक्ष्म राग के वेदन में

उनको धर्मबुद्धि रहती है, अतः राग से भिन्न होकर स्वभाव का अनुभव नहीं करते। और जो राग को धर्म माने वे राग के फल की भी इच्छा कैसे छोड़ें? – नहीं छोड़ते। अतः श्री कुन्दकुन्दस्वामी समयसार में कहते हैं कि वे अज्ञानी जीव सम्यक्त्वादि मोक्षहेतु धर्म को नहीं जानते और भोगहेतु धर्म का (अर्थात् पुण्य का) सेवन करते हैं – ऐसे जीव भी संसार में ही रुलते हैं; तब फिर जो मिथ्यात्वपोषक कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का सेवन करते हैं वे तो गृहीत मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से संसार में बहुत त्रास पाते हैं, तीव्र दुःख सहते हैं। अतः हे जीव! ऐसे मिथ्याभावों को तू छोड़।

जिसको सम्यग्दर्शन और भेदज्ञान नहीं है उसको यह नहीं मालूम कि आत्मा अपने अन्तर में कैसे प्रसिद्ध होता है? अतः उसको बाह्य प्रसिद्धि की भावना रहती है। धर्मी को तो अपने सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादसहित भगवान् आत्मा प्रसिद्ध हुआ है, यही सच्ची प्रसिद्धि है, उसी को 'आत्मप्रसिद्धि' कहते हैं। जगत में प्रसिद्धि हो तो भी उसमें आत्मा को क्या लाभ? जिसने अपने अन्तर में अपने आत्मा की प्रसिद्धि (अनुभूति) नहीं की और बाह्य में बहुत प्रसिद्धि हो गई तो उसमें उसको क्या लाभ हुआ? – कुछ भी नहीं और जिसने स्वानुभूति के द्वारा अपने अन्तर में अपने आत्मा को प्रसिद्ध किया, तो फिर उसको जगत् में दूसरों से प्रसिद्धि लेने का क्या काम रहा? ज्ञानी की अंतरंग अनुभूति की महिमा कोई अद्भुत है। अन्तर की स्वानुभूति में उसको भगवान् परमात्मा प्रसिद्ध हो चुका है; बाह्य प्रसिद्धि से उसको कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि जिसको आत्मा की प्रसिद्धि करने का नहीं आता और जिसकी आत्मा मोह से ढंकी हुई है तथा जिसको सच्चे देव-गुरु-धर्म का भी निर्णय नहीं है, वह जो कुछ मिथ्या आचरण करता है वह सब गृहीत मिथ्याचारित्र है; उसको दुःख का कारण जानकर त्याग करो और सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र के द्वारा आत्मा को प्रसिद्ध करो। – यही बात अन्तिम गाथा में कहते हैं।

हे जीव! मिथ्यात्वादि को छोड़कर अब आत्म के हितपंथ लाग

हे भाई! दीर्घकाल तक मिथ्याभावों के सेवन से तुम दुःखी हुए, परन्तु अब दुःख से छूटने के लिये आत्महित का जो मार्ग सन्तों ने दिखलाया उसको अंगीकार करके, सब तरह से मिथ्याभावों का सेवन छोड़ दो और आत्मा को सुख के पंथ में लगाओ।

(गाथा-१५)

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आत्म के हितपंथ लाग।

जगजाल-भ्रमणकोदेहत्याग, अब दौलत निज आत्म सुपाग॥१५॥

जीव को चार गति के सर्व-दुःखों का कारण मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र है – यह दिखाकर श्रीगुरु महाराज कहते हैं कि हे जीव! ऐसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को तुम छोड़ दो और सम्यग्दर्शनादि प्रगट करके आत्महित के पथ में लग जाओ। अनादि से मिथ्यात्वादि भावों के सेवन से तुम दुःखी हुए, अब तो आत्मा के हित का उपाय करो! – ‘अब आत्म के हितपंथ लाग।’ इस जगत् के मोहजाल में रुलना छोड़कर चैतन्य-दौलत से भरे हुये निजात्मा में लीन होओ। कवि अपने को भी संबोधन करके कहते हैं कि हे दौलत! अब तू अपनी आत्मा की आराधना में लीन हो और संसार के मोहजाल को छोड़।

अहा, जीवों को हितपंथ में लगाने के लिये सन्तों ने बड़े अनुग्रह से उपदेश दिया है। मिथ्यात्वादि भाव ही संसार का जाल हैं, उसमें फंसकर जीव चार गति में रुलता है और दुःखी होता है। उसका दुःख छोड़ाकर सुख का अनुभव कराने के लिये श्रीगुरु ने यह वीतरागविज्ञान का उपदेश दिया है।

‘तातें दुःखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार’

‘ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपना कल्याण।’

हे भाई ! तुम्हारे कल्याण के लिये इस उपदेश को तुम अंगीकार करो। आत्महित के अभिलाषी मुमुक्षु जीवों ! गृहीत-अगृहीत सभी मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को छोड़कर और शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अंगीकार करके आत्मकल्याण के मार्ग में लागो, पराश्रयभावरूप इस संसार में भटकना छोड़ो, मिथ्यात्वादि भावों का सेवन छोड़ो और सावधान होकर आत्मा को रत्नत्रय की आराधना में जोड़ो।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी नियमसार में कहते हैं कि – रे जीव ! –

मिथ्यात्व आदि भाव को चिरकाल भाया है तूने।

सम्यक्त्व आदि भाव को भाया नहीं कबही तूने॥

अरे जीव ! अब ऐसे मिथ्यात्वादि दुःखदायी भावों को छोड़ दे और आत्मा के कल्याण के मार्ग में लग जा। मैं देह से व राग से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप हूँ – ऐसा श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करके आत्महित को साध ले। भाई! ऐसा मनुष्यजीवन पाकर तूने आत्मा को प्राप्त किया कि नहीं? तेरी आत्मा को जानकर उसका उदय किया कि नहीं? – कि परकीय चिन्ता में ही जीवन खो दिया? अरे, अबतक तो आत्मा को भूलकर मिथ्याभावों के सेवन से जीव ने स्वयं अपना अहित किया; और उसमें भी कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवन से आत्मा का अत्यन्त अहित हुआ और वह दुःखी हुआ; अतः हे जीव ! अब तो तू सच्चे देव-गुरु-धर्म को पहचानकर सम्यक्त्वादि भाव प्रगट कर। ऐसा करने से तेरा परम हित होगा।

जगत् के बहुत जीव तो भगवान के कहे हुए वीतराग-विज्ञान को पहचानते ही नहीं और मूढ़तापूर्वक ऐसा समझते हैं कि हम तत्त्वज्ञान को जानते हैं; वे जीव कुगुरुओं के निमित्त से विपरीत विचार में ही अपनी ज्ञानशक्ति को गमा कर मिथ्यात्व की पुष्टि करते हैं; ऐसे जीवों को तो सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का अवकाश ही नहीं है।

अब कोई जीव कदाचित् थोड़ी सी विवेकबुद्धि प्रगट करे और कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का सेवन छोड़कर सच्चे देव-गुरु-धर्म के पास में आवे तो

वहाँ भी वे देव-गुरु शुद्धात्मा के अनुभव का जो निश्चय उपदेश देते हैं उसको तो अंगीकार नहीं करता और मात्र व्यवहारश्रद्धा करके, परमार्थ से अतत्त्वश्रद्धानी ही बना रहता है; उसको यद्यपि मिथ्यात्वादि की मंदता हुई है इस अपेक्षा से दुःख भी मन्द है, परन्तु सम्यग्दर्शन से अत्यधिक आनंद का अनुभव हुए बिना दुःख का कभी अभाव नहीं होता; मंद-तीव्र हुआ करता है, परन्तु अभाव नहीं होता, अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सिवाय अन्य जो कोई उपाय जीव करता है वे सब झूठे हैं। तो सच्चा उपाय क्या है? – कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् वीतराग-विज्ञान।

जीव को प्रत्यक्षरूप से अनेक दुःखों का जो वेदन हो रहा है, यदि अपना वह दुःख भी उसको न भासे तो दूसरा उसको कैसे दिखायेगा? अपना परिणाम देखने का धैर्य और विशुद्धता होनी चाहिए। भाई ! तुम धीर होकर अपने अन्तर में विचार करो कि शास्त्र में जो दुःख का वर्णन किया है वैसा दुःख तुम्हारे में है कि नहीं? तुम अपने दुःखों को और दुःख के कारणों को जानो; और उनसे छूटने के लिये इस मनुष्य-जीवन को धर्म साधन में लगाओ, तभी तुम्हें मोक्ष सुख होगा। मोक्षसुख की साधना मनुष्यपने में ही हो सकती है। तुम मोक्षसाधन न करके यदि विषय-कषायों में ही मनुष्यजन्म खो देंगे तो पछताओगे।

श्रीगुरु महाराज करुणा से बारबार समझाते हैं, परन्तु जीव सम्यक् परिणामन नहीं करता, अपने हित के लिये अन्तर में गहरा विचार भी नहीं करता। अरे भाई ! निजहित कैसे हो – उसका तुम विचार तो करो ! मोक्षमार्ग प्रकाशक में पण्डित श्री टोडरमलजी कहते हैं कि भला होना योग्य होने से जीव को ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आकर मैंने यहाँ जन्म धारण किया है? देह छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा स्वरूप क्या है? यह चरित्र कैसा बन रहा है? मुझे जो यह भाव होते हैं उनका क्या फल आयेगा? तथा इस जीव को जो दुःख हो रहा है उसको दूर करने का उपाय क्या है? इतनी बातों का निर्णय करके जैसे अपना हित

हो वैसा ही करना। – ऐसे विचारपूर्वक वह जीव उद्यमवंत होता है; अति प्रीतिपूर्वक श्रवण करके श्रीगुरु के कहे हुए वस्तुस्वरूप का अपने अन्तर में बारम्बार विचार करता है, सत्यस्वरूप का निश्चय करके उसमें उद्यमी होता है। इसप्रकार आत्मा का हित करने का जिसको बहुत उत्साह है ऐसा वह जीव वीतरागविज्ञान प्रगट करके अपना कल्याण साधता है।

जिज्ञासु जीवों के कल्याण के लिये वीतराग विज्ञान का यह उपदेश है। इसमें दुःख के कारणरूप मिथ्यात्वादिका स्वरूप दिखाकर उसका निषेध किया है; उसमें ऐसा प्रयोजन है कि मिथ्यात्व के प्रकारों को पहचानकर अपने में ऐसा कोई दोष हो तो उसे दूर कर सम्यक्श्रद्धा प्रगट करना, परन्तु कोई अन्य के ऐसे दोष देखकर कषाय नहीं करना; क्योंकि जीव का अपना भला-बुरा अपने ही परिणामों से होता है। अपने हित के लिये, सर्व प्रकार के मिथ्याभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है। मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है; राग-द्वेष शुभाशुभपरिणाम वे भी दुःख हैं, वे भी संसार का कारण हैं। ऐसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष को दुःखरूप जानकर हे जीवों ! अब तो उनका सेवन छोड़ो... और आत्मा का सच्चा श्रद्धाज्ञान करके उसमें लीनता का उद्यम करो।

चैतन्य दौलतवाले हे दौलतराम! हे आतमराम! अपने अनन्तगुणनिधान की दौलत को तुम सम्हालो। सोने-चाँदी की दौलत तो जड़ है, तुमसे जुदी है; तुम्हारा आत्मा केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप दौलत से भरा है; उसको पहचानकर तुम्हारे निज-निधान को संभालो। – इसप्रकार ग्रंथकार कवि दौलतरामजी अपने आपको भी संबोधन करते हैं और दूसरों को भी ऐसा उपदेश देते हैं। हे भाई ! तुममें तो केवलज्ञान और सिद्धपद होने की ताकत है, परन्तु अपने को भूलकर तुम भव में भटके। अतः अब दूसरी सब चिन्ता छोड़कर, जगत् का जाल तोड़कर तुम आत्महित के उद्यम में लागो... रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को प्रगट करो। उस मोक्षमार्ग का वर्णन अब तीसरी ढाल में करेंगे।

अहो, वीतरागी सन्त करुणापूर्वक कहते हैं कि हे भाई ! अब तुम आत्मा के हितपंथ में लग जाओ (अब आत्म के हितपंथ लाग); तुम्हारा बहुत काल दुःख में चला गया, अब तो सावधान होकर आत्मा का हित करो। हित करने का यह अवसर है। ऐसा उत्तम अवसर मत चूकना। राग दुःखदायक होने पर भी उसको सुखदायक मान लिया और सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागी चारित्रधर्म आनन्ददायक होने पर भी उसको दुःखदायक माना, इसप्रकार बंध-मोक्ष के कारण में भूल की और विपरीत तत्त्वश्रद्धा की; तत्त्व की ऐसी भूलरूप मिथ्यात्व को छोड़कर, यथार्थ तत्त्व पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करके अन्तर में मोक्षमार्ग में लग जाओ। हे आत्मन्! ऐसे अपने हित के लिये तुम शीघ्र सावधान हो जाओ।

सच्चे जैन वीतरागमार्ग के सिवाय किसी भी दूसरे मार्ग को मानना सो तो गृहीत-मिथ्यात्व है, उसमें तीव्र विपरीतता है; और जैनसंप्रदाय में आकरके भी यदि अपने अंतर में सर्वज्ञदेव कथित नवतत्त्व का सच्चा निर्णय व आत्मअनुभव न किया तो अनादि का मिथ्यात्व छूटता नहीं; इसलिए छहढाला के इस अधिकार में तत्त्वश्रद्धान में जीव की भूल दिखाकर उसके त्याग का उपदेश दिया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र आनन्ददायक है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र दुःखदायक है, इन दोनों को अच्छी तरह पहचानकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र का ग्रहण करो और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्याग करो। अरे! अरिहन्तदेव के जैनमार्ग में आकरके भी यदि तुमने तत्त्व का सच्चा निर्णय करके आत्म-अनुभव न किया तो तुम्हारा कल्याण कैसे होगा?

ज्ञानी करुणा से उपदेश करते हैं कि हे वत्स! हे भव्य! यहाँ संसारदशा में जो दुःख दिखाया तथा उसके कारणरूप मिथ्यात्वादि भाव दिखाया, उसका अनुभव तुमको होता है या नहीं? तुम जो उपाय अबतक करते थे उसको झूठा कहा – वह भी ऐसा ही है कि नहीं? तथा सम्यग्दर्शनादि से सिद्ध अवस्था प्रगट होने पर परम सुख होता है यह बात ठीक है कि नहीं?

इन सबका तुम स्वयं विचार करो; और यदि ऊपर कहे अनुसार ही तुमको प्रतीति उपजे तो संसार से छूटकर सिद्धपद का सुख पाने का हम जो उपाय कहते हैं उसको तुम अंगीकार करो! विलम्ब न करो। ऐसा उपाय करने से तुम्हारा कल्याण ही होगा। ●

इसप्रकार पं. श्री दौलतरामजी रचित छहढाला में, दुःख के कारणरूप मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का वर्णन करके उसको छोड़ने का उपदेश देनेवाले दूसरे अध्याय पर
पू. श्री कानजीस्वामी के प्रवचन पूर्ण हुए।
अब आप आगे पढ़ेंगे... वीतराग-विज्ञान प्रश्नोत्तर -

वीतरागविज्ञान-प्रश्नोत्तर

वीतराग विज्ञान की पहली पुस्तक में छहढाला के प्रथम अध्याय के प्रवचन में से दोहन करके २०० प्रश्न-उत्तर दिये गये थे, संक्षिप्त भाषा में सुगमशैली के ये प्रश्न-उत्तर सभी जिज्ञासुओं को पसन्द आये हैं और छहढाला के अभ्यास में विशेष उपयोगी हुए हैं। उसी प्रकार यह दूसरी पुस्तक में भी दूसरे अध्याय के दोहनरूप २४० प्रश्न-उत्तर यहाँ दिये जाते हैं।

२०१. जीव को क्या इष्ट है?
दुःख से छूटना और सुखी होना इष्ट है।
२०२. जीव के दुःख का कारण क्या है?
मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र ही दुःख का कारण हैं।
२०३. संसार में किस गति में दुःख हैं?
संसार में चारों ही गति में दुःख है।
२०४. क्या यह सच है कि नरक में छेदन-भेदन शीत-उष्णता का दुःख है?
नहीं; यह बात संयोग की है; वास्तव में जीव के मिथ्यात्वादि भावों का ही दुःख है।
२०५. कौनसी वस्तु इस जगत् में सर्वोत्कृष्ट है?
इस जगत् में वीतरागविज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है।
२०६. जीव वीतरागविज्ञान न करे तो क्या होगा?
तो जीव दुःखी होगा।
२०७. जीव को दुःख देनेवाला बड़ा शत्रु कौन है?
मिथ्यात्व ही जीव को महादुःख देनेवाला शत्रु है।
२०८. उससे बचने के लिये कौन-सी ढाल है?
वीतराग-विज्ञान ही मिथ्यात्व शत्रु से बचने की मजबूत ढाल है।

२०९. दुःख से बचने के लिये क्या करना चाहिए?
उसके कारणरूप मिथ्यात्व आदि को पहचानकर उसका सेवन छोड़ना।
२१०. निगोद से लेकर नववें ग्रैवेयक तक अज्ञानी जीव ने क्या किया?
चारों गति के अवतार में दुःख ही भोगे।
२११. जीव नरक में तो दुःखी हुआ, – किन्तु स्वर्ग में?
– वहाँ पर भी जीव अज्ञानवश दुःखी ही हुआ।
२१२. सुख कहाँ है?
जहाँ जहाँ सम्यक्त्वादि है वहीं पर सुख है।
२१३. दुःख कहाँ है?
जहाँ जहाँ मिथ्यात्वादि है वहाँ दुःख ही है।
२१४. नरक में दुःख का क्या कारण है?
वहाँ पर जीव के मिथ्यात्वादि भाव ही दुःख के कारण हैं।
२१५. स्वर्ग में दुःख का कारण क्या है?
वहाँ पर जीव के मिथ्यात्वादिभाव ही दुःख के कारण हैं।
२१६. जीव निगोद में क्यों रहता है?
अपने भावकलंक की अत्यन्त प्रचुरता के कारण।
२१७. क्या जड़कर्म जीव को दुःख देते हैं?
नहीं; वे तो दुःख में मात्र निमित्त हैं; वास्तविक दुःख तो जीव के स्वयं विपरीत भाव के कारण से है। कर्म तो जड़ हैं, जीव से भिन्न हैं, इसप्रकार भिन्न वस्तु सुख-दुःख नहीं देती।
२१८. कर्म कैसे बंधता है?
जीव की विपरीत मान्यता के कारण (भावों के अनुसार)
२१९. कर्म और संसारभ्रमण कैसे छूटे?
यदि जीव स्वयं के विपरीतभाव को छोड़कर सम्यक्त्वादि करे तो कर्म छूट जायेंगे और संसारभ्रमण मितेगा।
२२०. आचार्य भगवान कैसा उपदेश देते हैं?
वे बारंबार कहते हैं कि रे जीव! मिथ्यात्व के वश में होकर तूने बहुत दुःख भोगे, इसलिये अब तो तेरी आत्मा को पहिचानकर उस मिथ्यात्वादि को छोड़...छोड़ !

२२१. संसार में रुलते हुए जीव ने कभी दया पाली होगी?
हाँ, दया का शुभभाव तूने अनंतबार किया।
२२२. दया करने से क्या हुआ?
पुण्य के कारण वह स्वर्ग में गया, परन्तु वहाँ पर भी अज्ञानता के कारण दुःखी हुआ।
२२३. संसार में रुलते हुए जीव ने अब तक क्या न किया?
शुभ और अशुभ दोनों से पार आत्मा का स्वरूप नहीं जाना।
२२४. मिथ्यात्व किसको कहते हैं?
आत्मा को भूलकर, शरीर और राग में एकत्वबुद्धि करना उसको मिथ्यात्व कहते हैं।
२२५. ऐसे मिथ्यात्व का स्वरूप समझकर क्या करना?
मिथ्यात्व को छोड़ना और सम्यक्त्व ग्रहण करना?
२२६. संयोग दुःख का कारण है कि संयोगी बुद्धि?
संयोगी बुद्धि दुःख का कारण है संयोग नहीं।
२२७. जीव ने इन चार गतियों में सबसे कम भव किसमें किये?
मनुष्यगति में।
२२८. मनुष्यगति में कितने भव धारण किये?
अनंत।
२२९. क्या कभी इस जीव ने देवपद भी प्राप्त किया?
हाँ, अनंतबार स्वर्ग का देव हुआ।
२३०. इस जीव ने पूर्व में क्या प्राप्त नहीं किया?
सिद्धपद।
२३१. संसार का सबसे अधिक जीवन जीव ने कहाँ व्यतीत किया?
एकेन्द्रिय रूप में महादुःख में।
२३२. एकेन्द्रिय रूप में महादुःख क्यों है?
मोह की तीव्रता और चेतना की अत्यंत हीनता के कारण।
२३३. अब इस मनुष्य अवसर में क्या करना?
मिथ्याभावों को छोड़कर सम्यक्त्व को भजना।
२३४. राग-अशुभ हो कि शुभ वे दोनों कैसे हैं?
दोनों में दुःख है और दोनों संसार के कारण हैं।

२३५. शुभराग से क्या मिलता है? और क्या नहीं मिलता है?
शुभराग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु आत्मा नहीं मिलती।
२३६. क्या शुभराग से सम्यकदर्शनादि कोई गुण मिलता है?
— नहीं, राग तो दोष है, उससे गुण नहीं मिलता।
२३७. शुभराग यह गुण है कि दोष?
दोष।
२३८. क्या शुभराग मोक्षसुख का कारण हो सकता है?
नहीं; राग स्वयं दुःखरूप है, वह सुख का कारण नहीं हो सकता।
२३९. अज्ञानी शुभराग को कैसा समझता है?
अज्ञानता के कारण वह सुख और मोक्ष का कारण मानता है।
२४०. सुख क्या है? — दुःख क्या है?
वीतरागविज्ञान वह सुख और राग-द्वेष-अज्ञान यह दुःख है।
२४१. यह जानकर क्या करना?
दुःख के कारणों से दूर होना तथा सुख के कारणों का सेवन करना।
२४२. संसार का मूल क्या है?
मैं ज्ञान हूँ — ऐसा भूलकर मैं राग और शरीर हूँ — ऐसी मिथ्यात्वबुद्धि ही संसार का मूल है।
२४३. मिथ्यात्व सहित ज्ञान का चारित्र कैसा है?
वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है।
२४४. आस्रव क्या है?
मिथ्यात्वादि भाव ही आस्रव हैं।
२४५. वे आस्रव भाव कैसे हैं?
वह ज्ञान से विरुद्ध स्वभाववाले हैं।
२४६. जीव कैसा है? शरीर कैसा है?
जीव ज्ञानस्वरूप है; शरीर जड़ है।
२४७. यदि शरीरादि अजीव का काम जीव मान ले तो क्या दोष है?
तो उसने जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न नहीं जाना।
२४८. शुभभाव को धर्म माने तो क्या दोष?
तो उसने ज्ञान और आश्रव को भिन्न-भिन्न नहीं जाना।

२४९. वाणी वह किसकी क्रिया है?
वाणी वह अजीव की क्रिया है, जीव की नहीं।
२५०. क्या जीव को कर्म दुःखी करते हैं? कि वह उल्टे भाव से दुःखी है?
जीव अपने उल्टे भावों से दुःखी है।
२५१. सुख-दुःख किसमें हैं?
जीव में हैं, जड़ में सुख-दुःख नहीं।
२५२. सुख-दुःख का कारण किसमें है?
सुख-दुःख के कारण जीव में है, जड़ में नहीं।
२५३. आत्मा कैसा है?
आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ भगवान है।
२५४. संवर किससे होता है?
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा संवर होता है।
२५५. जीव सुखी-दुःखी किस प्रकार होते हैं?
स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर विपरीत भाव के कारण दुःखी होते हैं और स्वभाव में एकाग्रता होने से जीव सुखी होते हैं।
२५६. अन्य को सुख-दुःख का कारण माने तो क्या होगा?
अन्य द्रव्य के ऊपर से कभी राग छूटे नहीं और दुःख मिटेगा नहीं।
२५७. क्या शरीर की प्रतिकूलता जीव को बाधक होती है?
नहीं, सातवीं नरक की प्रतिकूलता के बीच में भी जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं?
२५८. फिर मिथ्यादृष्टि को कौन बाधक होते हैं?
शरीरबुद्धि का विपरीत भाव ही उसे अंतर्मुख नहीं होने देता।
२५९. क्या प्रतिकूलताओं के बीच में भी सम्यग्दर्शन हो सकता है?
हाँ; अन्दर में मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा लक्ष करे तो प्रतिकूलता के समय भी सम्यग्दर्शन हो सकता है।
२६०. क्या बाह्य अनुकूलता सम्यग्दर्शन प्राप्ति में सहायक होती है?
नहीं; बाह्य की सभी अनुकूलता होने पर जीव स्वयं अन्तर्लक्ष नहीं करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता।
२६१. सिद्धान्त समझकर क्या करना?
संयोग के सामने देखना छोड़कर स्वभाव की ओर दृष्टि करना?

२६२. अगृहीत मिथ्यात्व का क्या अर्थ?
आत्मा के सच्चे स्वरूप को भूलकर विपरीत मानना उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।
२६३. गृहीत मिथ्यात्व का क्या अर्थ?
कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का सेवन करना, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।
२६४. जीव ने कौनसा मिथ्यात्व पहले छोड़ा है?
गृहीत मिथ्यात्व को छोड़ा, किन्तु अगृहीत मिथ्यात्व को नहीं छोड़ा।
२६५. अगृहीत मिथ्यात्व क्यों नहीं छूटा?
चेतनस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं किया इसलिये।
२६६. जीव का संसार भ्रमण क्यों नहीं मिटा?
मिथ्यात्व नहीं छोड़ा और सम्यग्दर्शन नहीं प्रगट किया इसलिये।
२६७. सर्वज्ञ भगवान ने कैसा आत्मा देखा है?
भगवान ने देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा देखा है; (बिनमूर्ति चिन्मूर्ति अर्थात् मूर्तपने से रहित यह चैतन्यमूर्ति आत्मा है)
२६८. क्या मनुष्य लोक में अभी कोई सर्वज्ञ भगवान है?
हाँ; सीमन्धरादि लाखों सर्वज्ञ भगवान विचरते हैं।
२६९. कौनसे तत्त्व ज्ञान के लिये प्रयोजनभूत हैं?
जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों का ज्ञान प्रयोजनभूत है।
२७०. इन सात तत्त्वों में से कौन शत्रु और कौन मित्र हैं?
आस्रव और बन्ध शत्रु जैसे हैं तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष मित्र जैसे हैं।
२७१. इन सात तत्त्वों में शुद्धदृष्टि से कौनसा तत्त्व उपादेय है?
शुद्धदृष्टि से जीवतत्त्व ही उपादेय है।
२७२. साततत्त्वों में सुख-दुःख के कारण कौन हैं?
आस्रव और बन्ध दुःख के कारण हैं; संवर और निर्जरा सुख के कारण हैं।
२७३. धर्मात्मा को कैसा अनुभव करना चाहिये?
मैं उपयोगस्वरूप जीव हूँ ऐसा।
२७४. देहबुद्धि कैसे छूटे?
जब उपयोगस्वरूप आत्मा का अनुभव करे तब देहबुद्धि छूट जाती है।

२७५. क्या शरीर की क्रिया ही संवर है?
नहीं; सम्यग्दर्शन पूर्वक की शुद्धता संवर है।
२७६. सुख का स्वाद कब आयेगा? मोक्षमार्ग कब होगा?
पर को भिन्न जानकर स्व में स्थित रहो तब।
२७७. क्या जानने वाला तत्त्व जड़ की क्रिया करता है?
नहीं, वह यदि जड़ की क्रिया करे तो जड़ हो जायेगा।
२७८. क्या आत्मा शरीररूप है?
नहीं; आत्मा सदा उपयोगरूप है।
२७९. अजीव की क्रिया किस रीति से होती है?
अजीव में भी अनन्त शक्ति है उससे ही उसकी क्रिया होती है।
२८०. जगत् में चेतन द्रव्य क्या है और अचेतन द्रव्य क्या है?
जीव द्रव्य चेतन है और बाकी के पाँच द्रव्य अजीव हैं।
२८१. जगत् में मूर्त द्रव्य कौनसे हैं? और अमूर्त द्रव्य कौनसे हैं?
एक पुद्गल द्रव्य मूर्त है बाकी के पाँच द्रव्य अमूर्त हैं।
२८२. आत्मा कैसा है?
आत्मा सर्वज्ञस्वभावी महान् पदार्थ है उसी में आनन्द है; दूसरे कोई पदार्थ में ज्ञान-आनन्द नहीं, उससे भी आत्मा अनुपम है।
२८३. इस प्रकार की आत्मा को किस प्रकार जान सकते हैं?
स्वयं के अनुभव द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है।
२८४. जीव की आँख कौनसी है?
उपयोग ही जीव की आँख है।
२८५. शुभक्रिया धर्म का कारण हो सकती है?
नहीं।
२८६. शुद्धस्वभाव का अनुभव करने से क्या होता है?
आस्रव-बन्ध का नाश होता है और संवर-निर्जरा-मोक्ष प्रगट होते हैं।
२८७. वीतराग वाणी का मूल आशय क्या है?
जीव-अजीव का भेदज्ञान करके वीतरागरूप होना।
२८८. जीव ने किसका विचार नहीं किया?
अपने स्वरूप का सच्चा विचार जीव ने कभी नहीं किया।

२८९. जीव की चाल कैसी है? अजीव की चाल कैसी है?
जीव की चाल चेतनरूप है; अजीव की चाल जड़रूप है।
२९०. क्या अरिहन्त का नाम लेने से मिथ्यात्व छूट जाते हैं?
नहीं, अरिहन्त के स्वरूप को पहिचान करे तो मिथ्यात्व छूट जाते हैं।
२९१. अज्ञानी जीव किसमें अहंपना करता है?
शरीर और राग में।
२९२. जीव को अहंपना किसमें करना चाहिये?
स्वयं के उपयोगस्वरूप में। (अहंपन = एकत्वबुद्धि)
२९३. अरंहत, सिद्ध आदि की सच्ची पहचान कब होती है?
उपयोगस्वरूप आत्मा की पहचान करे तब।
२९४. क्या शरीर और खुराक (भोजन) बिना आत्मा जी सकता है?
हाँ; आत्मा सदा उपयोगसहित जीता है।
२९५. आत्मा किसके बिना जी नहीं सकता?
उपयोग बिना आत्मा एक क्षण भी जी नहीं सकता।
२९६. क्या शरीर और राग बिना जीव हो सकता है?
हाँ।
२९७. क्या उपयोग बिना जीव रह सकता है?
नहीं।
२९८. बारम्बार घोलन करने योग्य क्या है?
भेदविज्ञान।
२९९. सच्ची सामायिक, प्रतिक्रमण, धर्म कब होते हैं?
मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व प्रकट करे तब।
३००. क्या आत्मा से शरीर को भिन्न जाने बिना सच्चा प्रतिक्रमण हो सकता है?
नहीं।
३०१. पहला सुख क्या?
सम्यग्दर्शन ही पहला सुख है।
३०२. जीव का सच्चा जीवन क्या है?
वीतरागविज्ञान के द्वारा सुख का अनुभव करना।

३०३. जगत् में उत्कृष्ट विभूति कौनसी?
आत्मा के सर्वज्ञपद की विभूति जगत् में उत्कृष्ट है।
३०४. छ खण्ड की विभूति का मोह एक क्षण में कैसे छूटे?
चैतन्यस्वभाव की रुचि करने पर।
३०५. जीव का निजघर कौनसा? और परघर कौनसा?
चैतन्यमय आनन्दधाम निजघर है; राग और शरीर परघर है।
३०६. कौनसी दो बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं?
आत्मा को ज्ञानरूप जाने और फिर पर को अपना माने ये दो विरुद्ध बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं।
३०७. आत्मा की शोभा किससे हैं?
सम्यक्त्वरूपी मुकुट और चारित्ररूपी हार के द्वारा आत्मा शोभती है।
शरीर का शृंगार करने से आत्मा शोभती नहीं।
३०८. होशियारी किसमें है?
आत्मा का अनुभव करने में।
३०९. बेहोशी क्या है?
आत्मा का भान नहीं होना और पर में अभिमान करना बेहोशी है।
३१०. जैन परम्परा में जन्म लेने से उसका सच्चा लाभ कब माना जाएगा?
जीव-अजीव का भेदज्ञान करके सच्चा जैन बने तब।
३११. भगवान किसको जैन नहीं मानते?
जिसको जीव-अजीव की भिन्नता का ज्ञान नहीं है।
३१२. यदि आत्मा जड़ का कर्त्ता बने तो क्या दोष?
तो आत्मा जड़ हो जायगा।
३१३. जड़ का कर्त्ता कौन होता है?
जो जड़ होय वह जड़ का कर्त्ता हो सकता है।
३१४. अज्ञान दशा में क्या होता है?
अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।
३१५. सच्चा ज्ञान होने पर क्या होता है?
अपने को आप जानकर आनन्दी हो गया।
३१६. जीव और शरीर के बीच कौनसा अभाव है?
अत्यन्त अभाव है।

३१७. आस्रव को पहिचानने में अज्ञानी जीव कौनसी भूल करते हैं?
रागादि भाव दुःख देने वाले होने पर भी उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करते हैं।
३१८. मरण का भय कब मिटेगा?
अविनाशी चैतन्य द्रव्य को स्वयं समझे तब।
३१९. सबसे पहले क्या सीखना?
मैं जीव हूँ; शरीर मैं नहीं – ऐसा सीखना।
३२०. क्या खुराक बिना आत्मा जी सकता है?
हाँ; यदि खाये तो मर जाय; क्योंकि जड़ खुराक को आत्मा खाये तो आत्मा जड़ हो जाय अर्थात् मर जाय।
३२१. तो आत्मा किससे जीता है?
आत्मा स्वयं के चैतन्यभाव से ही जीता है।
३२२. शरीर आवे वहाँ आत्मा क्या करता है?
शरीर आवे या जावे उसको आत्मा जानता है, परन्तु स्वयं शरीररूप नहीं होता।
३२३. देह से भिन्न आत्मा कब दिखता है?
दोनों को भिन्न-भिन्न लक्षण से पहिचानने तब।
३२४. शरीर से भिन्न आत्मा क्यों नहीं दिखाई देता?
शरीरबुद्धि का घुटन होने के कारण।
३२५. क्या आत्मा और शरीर कभी एक हो सकते हैं?
नहीं, एकपना नहीं होता; तीनों काल दो भाव रहते हैं।
३२६. अभी आत्मा और शरीर एक है कि जुदा?
जुदा, आत्मा चेतन और शरीर जड़ है।
३२७. धर्मी की ऋद्धि कैसी है?
धर्मी जानता है कि यह बाहर की ऋद्धि हमारी नहीं, अनन्तगुण सम्पन्न चैतन्यऋद्धि ही हमारी ऋद्धि है।
३२८. क्या आत्मा के अवयव होते हैं?
हाँ; आत्मा के ज्ञान-दर्शन-सुख आदि अनन्त अवयव हैं।
३२९. शुभ और अशुभ दोनों भाव कैसे हैं?
दोनों अनात्म भाव हैं; दोनों में दुःख है।

३३०. पुण्यफल में जो सुख मानता है उसको क्या होता है?
वह मोह की पुष्टी के कारण संसार में भ्रमण करता है और दुःखी होता है।
३३१. शुभराग से स्वर्ग तो मिलता है फिर भी उसमें दुःख?
हाँ, स्वर्ग मिलने से कोई आत्मा को सुख नहीं मिल जाता, स्वर्ग के पदार्थों को भोगते आकुलता और दुःख ही होता है?
३३२. तो सुख किसमें है?
शुभ-अशुभ से भिन्न चैतन्यभाव का वेदन करना ही सच्चा सुख है।
३३३. आत्मा का निजरूप कैसा है?
निजरूप तो शरीर और राग दोनों से पार चेतनरूप है।
३३४. रागादि भाव कैसे हैं?
वे ज्ञान रहित हैं, आत्मा का निजरूप वे नहीं।
३३५. पाप तो मोक्ष का कारण नहीं; – पुण्य तो है?
पुण्य भी मोक्ष का कारण नहीं, बन्ध का ही कारण है।
३३६. क्या राग में आनन्द है?
नहीं; राग तो आकुलता की भट्टी है; उसमें शांति नहीं।
३३७. चैतन्य के आनन्द की सच्ची मिठास अज्ञानी क्यों भूल जाता है?
क्योंकि उसको पुण्य में मिठास लगती है इसलिये।
३३८. मुमुक्षु जीवों को किसमें लगे रहना चाहिये?
मुमुक्षु जीवों को वीतरागविज्ञान की प्राप्ति में लगे रहना चाहिए, पुण्य-पाप में नहीं।
३३९. वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की तरफ का राग कैसा है?
पुण्य बन्ध का कारण है, मोक्ष का नहीं।
३४०. राग सहित केवलज्ञान या मोक्ष हो सकता है?
नहीं, राग को सर्वथा छोड़कर ही केवलज्ञानादि की प्राप्ति हो सकती है।
३४१. क्या अभी से ही राग को छोड़ने जैसा मानना?
हाँ; यदि अभी से राग को छोड़ने योग्य नहीं माने तो कहाँ से छोड़ेगा।
३४२. शुभराग को मोक्ष का कारण माने तो क्या होगा?
मोक्ष तो नहीं होगा पर मिथ्यात्व होगा।

३४३. क्या धर्मी को शुभराग नहीं होता?
धर्मी को शुभराग होता है, पर उसको मोक्ष का कारण नहीं मानता।
३४४. बन्धन क्या है? मुक्ति क्या है?
उपयोग को राग के साथ जोड़ना बन्धन है और उपयोग को आत्मा के साथ जोड़ना मुक्ति है।
३४५. राग-द्वेष से रहित किस प्रकार हो सकते हैं?
उपयोग को अन्तर के शुद्धात्मा में एकाग्र करने से।
३४६. सन्त कैसा हितोपदेश देते हैं?
राग का सेवन छोड़ो और अपने चैतन्य स्वरूप का सेवन करो।
३४७. अज्ञानी बड़ी भूल क्या करते हैं?
आत्मा के हित करने वाले ज्ञान-वैराग्य के कारण को दुःखदायक मानते हैं।
३४८. अज्ञानी दूसरी भूल क्या करता है?
शुभराग दुःखदायक होने पर भी उसे अच्छा मानकर उसका सेवन करता है।
३४९. मोक्षभाव क्या है? बन्ध भाव क्या है?
ज्ञान-वैराग्य वह मोक्ष भाव, अज्ञान और शुभ-अशुभ बन्धभाव हैं।
३५०. क्या चारित्र में दुःख है?
नहीं; चारित्र में महान आनन्द है और वह जगत्पूज्य है।
३५१. चारित्र किसमें है?
कोई चारित्र राग और शरीर में नहीं; चेतन में रमण करना ही चारित्र है।
३५२. आठों कर्म विषवृक्ष हैं; तो अमृतवृक्ष कौन?
आत्मा अमृत का वृक्ष है; उसके अनुभव में आनन्द है।
३५३. जिसको पुण्य की रुचि है उसे किसकी रुचि है?
उसको जड़ की रुचि है, आत्मा की रुचि नहीं।
३५४. पुण्य के फल में तो धर्म के निमित्त मिलते हैं?
भले मिलें; परन्तु वह निमित्त तो आत्मा से जुदे हैं; उनके सन्मुख देखने से आत्मा को किंचित् धर्म का लाभ नहीं होता।
३५५. धर्मी को किसका उत्साह है?
धर्मी को चैतन्य के अनुभव का उत्साह है; राग का नहीं।

३५६. पुण्य बाँधने से उसमें आत्मा की शोभा है?
जी नहीं; चैतन्य को बन्धन वह तो शरम है।
३५७. सुख राग में होता है कि वीतरागता में?
वीतरागता में ही सुख होता है, राग में नहीं।
३५८. मोक्ष की श्रद्धा कब होती है?
ज्ञानस्वभाव को पहिचाने तब; क्योंकि मोक्ष तो ज्ञानमय है।
३५९. जीव दुःख को चाहते नहीं, फिर भी दुःखी क्यों हैं?
क्योंकि दुःख के कारणरूप मिथ्यात्वभावों का दिन-रात सेवन करते हैं।
३६०. जीव सुख को चाहते हैं फिर भी सुखी क्यों नहीं होते?
क्योंकि सुख के कारणरूप वीतराग-विज्ञान को एक क्षण भी सेवन नहीं करते हैं।
३६१. दुःख से छूटने और सुखी होने के लिये क्या करना?
वीतरागविज्ञान का सेवन करना और मिथ्यात्व भावों को छोड़ना।
३६२. शुभराग की प्रीति से क्या मिलता है?
संसार।
३६३. चैतन्यपद की प्रीति से क्या मिलता है?
मोक्ष।
३६४. धर्मी स्वयं को सदा कैसा जानता है?
मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हूँ – ऐसा धर्मी जानता है।
३६५. क्या गृहस्थ को भी आत्मा की पहिचान हो सकती है?
– हाँ।
३६६. मुनि कैसे हैं?
चैतन्य में लीन वीतराग भाव से महान सुखी हैं।
३६७. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों कैसे हैं?
वे तीनों राग रहित हैं; वीतराग हैं।
३६८. अनुभव का अतीन्द्रिय आनन्द कैसा है?
राग की तरह जो कल्पना में नहीं आ सके ऐसा।
३६९. निराकुल सुखरूप मोक्ष का कारण कैसा है?
उसका कारण भी निराकुल (राग बिना) ही होता है। राग तो आकुलता है उसको मोक्ष का कारण मानने से कारण कार्य में विपरीतता होती है।

३७०. शुभराग व्यवहारक्रियायें जीव ने पहले कभी की हैं?
हाँ, अनन्तबार, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं हुआ।
३७१. अनादि से किस रीति से मुक्त होता है?
वीतरागविज्ञानरूप धर्म को साधकर फिर।
३७२. आनन्द होने के लिये 'ज्ञानी' क्या कहते हैं?
हे जीव तू आत्मा में रमण कर। उसी में आनन्द है।
३७३. चींटी शक्कर खाती हो तो उस समय सुखी है कि दुःखी?
दुःखी।
३७४. अज्ञानी देव स्वर्ग में अमृत का स्वाद लेते समय सुखी है कि दुःखी?
दुःखी।
३७५. जीव कब सुखी होता है?
स्वभाव की निराकुलता का स्वाद ले तब।
३७६. सिद्ध भगवंतों को बाह्य विषयों के बिना भी सुख क्यों है?
क्योंकि सुख का अनुभव आत्मा में से ही आता है; विषयों में से नहीं।
३७७. बाह्य पदार्थों को भोगने की इच्छा कौन रखते हैं?
जो इच्छा से दुःखी होता है वो।
३७८. मोक्ष में सिद्ध भगवान क्या करते हैं?
स्वयं के आनन्द को भोगते हैं और दूसरा पर का कुछ नहीं करते।
३७९. संसारी जीव क्या करते हैं?
अज्ञान और राग-द्वेष कर दुख को भोगते हैं।
३८०. क्या धर्म से तीर्थंकर प्रकृति बन्धती है?
नहीं; धर्मी को राग के कारण बन्धती है, धर्म से नहीं।
३८१. जीव को लाभ कितना?
सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी वीतरागता हुई उतना।
३८२. क्या मुक्त जीव एक-दूसरे में मिल जाते हैं?
नहीं; हरेक जीव भिन्न अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं।
३८३. ईश्वर का क्या अर्थ? ईश्वर कितने हैं?
जिस आत्मा को पूर्ण शक्ति प्रगट हुई वो ईश्वर अनंत हैं।
३८४. क्या यह आत्मा भगवान हो सकता है?
हाँ; सब जीव सिद्ध समान हैं, जो समझते हैं वो हो सकते हैं।

३८५. मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख को पहिचानने से क्या लाभ?
अपने में भी अतीन्द्रिय सुख का स्वाद आता है।
३८६. क्या इन्द्रियज्ञान के द्वारा मोक्षसुख को पहचान सकते हैं?
नहीं।
३८७. शुभराग को मोक्ष का साधन बनाया जाय तो?
उसको मोक्ष की और मोक्ष के उपाय की खबर नहीं।
३८८. जीव ने पहले कभी किसका सेवन नहीं किया?
सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का।
३८९. शुक्ललेश्या और शुक्लध्यान में क्या अंतर है?
शुक्ललेश्या अज्ञानी को भी होती है और शुक्लध्यान मुनि को ही होता है।
३९०. क्या शुक्ललेश्या और कृष्णलेश्या पर से ज्ञानी-अज्ञानी का माप हो सकता है?
नहीं, शुक्ललेश्या अज्ञानी को भी होती है और कृष्णलेश्या ज्ञानी को भी होती है।
३९१. कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवन से क्या होता है?
जीव का बहुत अहित होता है; मिथ्यात्व की वृद्धि होती है।
३९२. कुगुरु किसके समान है?
पत्थर की नौका के समान; खुद तो डूबता है और उसका आश्रय करनेवाले भी डूबते हैं।
३९३. कल्याण का मूल क्या है?
सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर उनका सेवन करना।
३९४. जैनधर्म का गुरुपद कैसा है?
अहा; यह तो महान पवित्र परमेष्ठीपद है; निर्ग्रन्थ है।
३९५. वे गुरु क्या करते हैं?
शुद्धरत्नत्रय के द्वारा आत्मा के आनन्द का अनुभव करते हैं।
३९६. क्या कुगुरु जीव को डुबाते हैं?
नहीं; अपने मिथ्यात्वभाव से ही जीव डूबता है।
३९७. जो राग से धर्म मनाता है क्या वो महावीर के मार्ग में है?
नहीं; महावीर का मार्ग तो वीतराग का मार्ग है।

३९८. वीतराग अरिहंतदेव को सच्चा नमस्कार कब होता है?
राग का रस छोड़कर वीतरागभाव का आदर करे तब।
३९९. अरिहन्त परमात्मा की सच्ची स्तुति कौन कर सकता है?
सम्यग्दृष्टि।
४००. मिथ्यादृष्टि जीव अरिहन्त की सच्ची स्तुति क्यों नहीं कर सकता?
क्योंकि वो अरिहन्त के सच्चे स्वरूप को पहचानता नहीं है।
४०१. अरिहन्त का सच्चा स्वरूप कब पहचानने में आता है?
राग से जुदा होकर अपने स्वरूप का आश्रय ले तब।
४०२. क्या महावीर भगवान राग से धर्म मानते थे?
नहीं।
४०३. तो जो राग को धर्म मानता है वो महावीर को मानता है?
नहीं।
४०४. तो महावीर को कौन मानता है?
वीर होकर वीतरागमार्ग को जो साधते हैं वे।
४०५. क्या जैन साधु वस्त्र पहनते हैं?
नहीं।
४०६. यदि वस्त्रवाले साधु को माने तो क्या दोष?
तो गृहीत मिथ्यात्व और कुगुरु सेवन का दोष लगेगा।
४०७. श्रेणिक राजा ने नरक आयु क्यों बाँधी?
मिथ्यादृष्टि होने के कारण निर्ग्रंथ मुनि पर उपसर्ग किया इसलिये।
४०८. श्रेणिक राजा ने तीर्थकर नामकर्म कब बाँधा?
सम्यग्दृष्टि सहित वीर प्रभु के चरणों में दर्शनशुद्धि आदि भावना
भायी तब।
४०९. यदि कुगुरु आवे तो क्या करना?
तो जानना कि सच्चे गुरु नहीं है।
४१०. यदि सामनेवाले को दुःख लगे तो?
तो उसके भाव उसके पास रहे, इसमें तुझे क्या?
तू सम्यक् भाव के द्वारा तेरा हित कर ले।
४११. क्या दिगम्बर मनुष्य भी कुगुरु हो सकता है? हाँ; जो जैनधर्म से
विरुद्ध प्ररूपणा करे तो वह भी कुगुरु है।

४१२. ऐसी बात किसलिये करते हो?
सत्य को समझकर जीव अपना हित करे इसलिये।
४१३. भगवान भक्तों को तारते हैं और राक्षसों का हनन करते हैं क्या यह बात सत्य है?
नहीं; ऐसे राग-द्वेष के कार्य भगवान नहीं करते।
४१४. क्या रामचन्द्रजी और हनुमानजी भगवान थे?
हाँ; उन्होंने भी सर्वज्ञवीतराग होकर मोक्ष को प्राप्त किया।
४१५. क्या राम और हनुमान पूजे जा सकते हैं?
हाँ; उनके वीतराग स्वरूप को पहिचानकर पूजे जा सकते हैं।
४१६. यदि कोई अरिहन्त भगवान को दोषवाला माने तो?
तो कोई भगवान दोषित नहीं हो जाते, परन्तु उस जीव को मिथ्यात्व होता है।
४१७. देव अर्थात् कौन?
देव अर्थात् सर्वज्ञ वीतरागपद को प्राप्त भगवान।
४१८. पूर्ण सुख कहाँ होता है?
पूर्ण सुख तो सर्वज्ञता और वीतरागता में ही होता है।
४१९. सर्वज्ञ वीतरागदेव ने क्या बताया?
आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव और वीतरागी मोक्षमार्ग बताया।
४२०. भव के दुख से जो डरता है उसको क्या करना?
कुमार्ग को छोड़कर सर्वज्ञदेव के मार्ग का सेवन करना।
४२१. जिनप्रतिमा कैसी कही है?
जिनप्रतिमा जिनसारखी;
४२२. सर्व जगत् को जानते तो हैं, पर करते नहीं – ऐसे कौन हैं?
सर्वज्ञदेव।
४२३. सर्वज्ञवीतराग को छोड़कर मोही जीव को कौन भजते हैं?
जो तीव्र मोही होते हैं।
४२४. सर्वज्ञदेव की कही हुई वस्तु कैसी है?
अनेकान्तरूप द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है।
४२५. सच्चा ज्ञान क्या है?
ज्ञान और राग की भिन्नता का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।
४२६. मतिश्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों की जाति कैसी है?
दोनों की जाति एक जैसी है, दोनों बिना राग के हैं।

४२७. शास्त्रों का अभ्यास सच्चा कब कहलायगा?
स्वयं के ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तब।
४२८. ज्ञानचेतना कब जागती है?
ज्ञानस्वरूप का अनुभव करे तब।
४२९. जैनशास्त्रों का सार क्या है?
ज्ञान का अनुभव अर्थात् वीतरागविज्ञान।
४३०. मोक्षमार्ग के बीच जो व्यवहार आता है वो कैसा है?
वो जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं।
४३१. आदर करने लायक (योग्य) क्या है?
परम ज्ञायक स्वभाव।
४३२. क्या आहारदान से मोक्ष मिलता है?
नहीं, उसका फल पुण्य है मोक्ष नहीं।
४३३. मोक्ष किससे मिलता है?
शुद्ध रत्नत्रय से।
४३४. बिना पहचान के अरिहन्तदेव को माने तो?
बिना पहचान के मिथ्यात्व नहीं छूटता और सच्चा हित भी नहीं होता।
४३५. धर्मी जीव अपनी प्रसिद्धि किसमें करता है?
अपनी निर्मलपर्याय में; वह बाहर की प्रसिद्धि नहीं चाहता।
४३६. चारित्रवंत मुनिराज कैसे हैं?
वे सिद्धप्रभु के पड़ौसी हैं।
४३७. मुमुक्षु जीव क्या करते हैं?
अनुभव के लिये निजस्वरूप का अंतर में बारंबार विचार करते हैं।
४३८. अभी किसका अवसर है?
आत्मा का हित करने का यह उत्तम अवसर है।
४३९. जीव को परम सुख कब होता है?
सिद्धपद को प्रगट करे तब।
४४०. दूसरी ढाल के अन्त में क्या शिक्षा दी है?
'अब आत्म के हितपन्थ लाग'
हे जीव! अब तू आत्महित के पन्थ में लग जा।

● जय वीतराग-विज्ञान ●



ऐसे मिथ्यादृग – ज्ञान – चर्ण वश, भ्रमत भरत दुख जन्म – मर्ण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥

जीवादि प्रयोजन भूत तत्व, सरधैं तिन माहिं विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, बिन मूरत चिन्मूरत अनूप॥

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इन तैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान॥

मैं सुखी दुखी मैं रंक – राव , मेरे धन–गृह गोधन– प्रभावा।
मेरे सुत–तिय मैं सबल दीन, बेरूप–सुभग– मूरख प्रवीन॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन॥

ते सब मिथ्याचारित्रा त्याग, अब आतम के हित पन्थ लाग।
जगजाल–भ्रमण को देहु त्याग, अब 'दौलत' निज आतम सुपाग॥

– पण्डित दौलतराम